प्रकाशक—
आयुर्वेद-विज्ञान ग्रन्थमाला आफिस,
अमृतसर ।

मुद्रक—
ज्ञानी पिण्डी दास
आर्य्य प्रेस, अमृतसर ।

त्रिदोष-मीमांसा

लेखक—
स्वामी हरिशरणानन्द वैद्य

विषय सूची

उपोद्घात

आज कई वर्षों से वैद्य समुदाय में त्रिदोष (वात, पित्त, श्लेष्म) की स्थिति पर विचार हो रहा है। वैद्य सम्मेलन ने भी त्रिदोष की विशद व वैज्ञानिक व्याख्या करने वाले के लिए ५००) रुपये का पुरस्कार रक्खा है। भारत, कहते हैं- धुरन्धर विद्वान् वैद्यों से भरा पड़ा है; पर आज तक किसी ने भी त्रिदोष की सन्तोषदायक व्याख्या नहीं की। इस में कोई सशय नहीं कि भारतीय जनता में त्रिदोषवाद इतना व्यापक हो रहा है कि मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति के पेट में जब दर्द होने लगता है, तो वह भी कहता है कि मेरे पेट में वाई (वात) बढ गई है। जब गर्मी, घबराहट और प्यास आदिकी व्यथायें सताती हैं तो वह पित्त-प्रकोप कहता है। श्लेष्म के सम्बन्ध में तो कुछ कहने की जरूरत ही प्रतीत नहीं होती। बलगम को निकलता देखकर श्लेष्म-प्रकोप का प्रत्यक्ष निदर्शन होजाता है। इसी तरह जब वैद्यों के पास कोई रोगी आता है, तो रोग चाहे किसी कारणसे हुआ हो, वैद्य सबसे पहले नाड़ी देखकर यही उत्तर देता है कि, 'आपके भीतर वात और पित्त यह दोनों दोष बढ़े हुए दिखाई देते हैं'। रोगी चारपाई पर हो और ज्वर जरा तीव्र हो तो वैद्य को तीनों दोष बढ़े हुए कहने में संकोच नहीं होता। फिर यही नहीं ज्योतिष के फलादेश कहने वालों की तरह इनके पास भी दोष प्रकोप का फलादेश

होता है जो प्रतिशत ५० के प्रति तो अवश्य ही अनेक लक्षणों में ठीक उतर जाता है। यदि कोई लक्षण न मिले और अन्तर दिखाई दे तो वैद्य अपने विचार रोगी के कथित लक्षणानुसार बदल भी देता है। मिश्रित लक्षण युक्त त्रिदोष-वाद ऐसी मुलायम मोम की नाक है कि जिसे आसानी से मोड़ा जा सकता है और रोगी का विश्वास भी बना रहता है। एक रोगी दस वैद्यों के पास जाकर अपने को दिखावे, यह ठीक है—कि कभी भी सारे वैद्यों की सम्मति एक नहीं होगी, कोई एक दोष बतलायेगा तो कोई दो तीन, इतना होने पर भी जनता में विश्वास जमाने के लिए यह कहावत खूब काम देती है 'अजी यह तो अपना २ तजुर्बा है'। रोगी बेचारेको दिखता तो कुछ है ही नहीं, यदि उसे अपने रोग का वास्तविक ज्ञान होता तो काहे को वैद्यों के पास धक्के खाता, उसे लाचार स्वीकार करना पड़ता है कि भई! तुम जो कहते हो ठीक होगा। इस तरह भारतीय जनतामें न जाने कितने समय से त्रिदोष-वाद की तूती बोलती चली आ रही है।

पर जब से भारतीय जनता ने विदेशी भाषा के साथ २ कुछ पदार्थ-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, शरीर-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की, और इसी के साथ २ देश में विदेशी चिकित्सा पद्धतिका प्रचार बढा; शनैः २ लोगों के विचार बदलने लगे।

पेट दर्द के होने पर उसे वह वातजन्य न मानकर किन्हीं और ही कारणोंकी ओर झुके, पित्त और श्लेष्म क्या है? इसको वह प्रत्यक्षतया जान गये। इसीलिए, ज्वर में पित्त और खासी के साथ श्लेष्म का निकलना देखकर वह इसे

श्लेष्म और पित्त प्रकोप न मान दूसरा ही कारण मानने लगे और उन्होंने उक्त विषयों पर अपने वैज्ञानिक विचार रक्खे। आरम्भ में तो कुछ समय तक वैद्य समुदाय ने इन वैज्ञानिक विचारों को ऐलोपैथी के सिद्धान्त बताकर इनका घोर विरोध किया और आज भी ऐलोपैथी चिकित्सा की त्रुटियों या दोषों को दिखाकर त्रिदोष-वाद को पुष्ट करने की चेष्टा की जाती है पर धीरे २ समय ने बदल कर दिखा दिया कि तुम्हारा यह बेढगा घोर विरोध सफल न होगा। त्रिदोष-वाद को अब प्रत्यक्ष करके दिखाना या सिद्ध करना होगा, या इसे छोड़ देना पड़ेगा।

ऐसे ही विचारकों में से वैद्य मण्डल के कुछ विचारक हैं, जिन्होंने त्रिदोष-वाद पर वैज्ञानिक व्याख्या की मांग पेशकी है। हम न तो त्रिदोष के पक्ष में कुछ कहना चाहते हैं न विपक्ष में। हम तो एक आलोचक की दृष्टि से त्रिदोष का वास्तविक इतिहास, रूप और उसका विकास एक ओर रख देंगे, इस के साथ २ विपक्ष में वह वैज्ञानिक प्रमाण भी रखते चले जायेंगे, जिनसे इनकी असलियत का पता लगता चला जायगा। रहा यह कि अब इसमें सच्चाई क्या है? उसकी तलाश स्वयं ही पाठक इस निबन्ध के भीतर करलें।

यह निबन्ध लिखा तो आज से बहुत समय पूर्व गया था। परन्तु कुछ वैद्यों का आग्रह था कि इसका प्रकाशन अभी समय से पूर्व है। त्रिदोष की वैज्ञानिक व विशद व्याख्या जब वैद्यों द्वारा की जाय, उस समय इसको प्रकाशित किया जाय। इस बात की प्रतीक्षा आज कई वर्षोंसे करता चला आ-

रहा हूं। अन्तमें निराश होकर अपने विचारोंको बदलना पड़ा। यह छोटा सा निबन्ध पुस्तकरूप में आपके समक्ष रखता हूं, ताकि इसे प्रत्येक वैद्य तक पहुंचा सकूं। मैं ने अपनी ओर से यह चेष्टा की है कि इस में कोई अंश छूट न जाय, कोई त्रुटि न रहे, पर भला यह कब हो सकता है। त्रुटि का रहना स्वाभाविक बात है। सज्जन पाठकों से आशा करता हूं कि वह इस निबन्ध की त्रुटियों पर ध्यान देकर हमें सूचित करें ताकि उन्हें सुधार दिया जाय।

चिकित्सकों का विनम्र सेवक—

स्वामी हरिशरणानन्द वैद्य

श्री स्वामी हरिशरणानन्द वैद्य

* त्रिदोष-मीमांसा *

प्राचीन आयुर्वेद का संक्षिप्त परिचय

ब से पहिले कोई विचारणीय बात है, तो यह है. कि त्रिदोष-वाद के इतिहास को खोजा जाय और यह मालूम किया जाय कि यह सिद्धान्त कब स्थिर हुआ था, और इस का प्रचार कैसे हुआ ? जब तक हम इसके आरम्भिक इतिहास को नहीं जान पाते तब तक कल्पित भ्रान्ति नहीं मिट सकती। इसीलिए इस पर कुछ विचार करना है।

कहते हैं कि हमारी आयुर्वैदिक चिकित्सा पद्धति इस देशकी चिकित्सा पद्धति नहीं, बल्कि यह दैवी चिकित्सा पद्धति है। क्योंकि आयुर्वेद के प्रत्येक ग्रन्थ में लिखा है कि इस पद्धति के आविष्कारक ब्रह्मा जी हुए। उन्होंने एक लक्ष श्लोकों में ब्रह्म-संहिता नामका ग्रन्थ लिखा और उनसे उनके सुचतुर पुत्र दक्ष जी ने इसको अच्छी तरह सीखा। दक्षजी ने इस विस्तृत

चिकित्सा ग्रन्थ को—जो एक लच श्लोक में था, उसे घटाकर दस सहस्र श्लोकमें कर दिया, जिसका नाम उन्होंने दक्ष-संहिता रक्खा। दक्ष जी से देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमार जी ने इस विद्या को सीखा। अश्विनी कुमार जी चिकित्सा शास्त्र के बड़े प्रवीण चिकित्सक माने गये हैं, ऐसा आयुर्वेद शास्त्र बतलाता है। उन्होंने दक्ष प्रजापति के कटे सिरको जोड दिया था तथा यक्ष्मा रोग से ग्रसित मृत्यु के समीप जाते हुए राजा चन्द्रदेव को बचा लिया था। इस से भिन्न च्यवन ऋषि जिन के नेत्र किसी ने कांटे चुभा कर नष्ट कर दिये थे और शरीर जरजर होगया था, उन के नेत्र ही ठीक नहीं किये बल्कि उन को पुनः वृद्धावस्था से नवयुवक बना दिया। उस समय इन्होंने भी अपने नाम से आयुर्वेद की एक संहिता निर्म्माण की थी। देवताओं का राजा इन्द्र इनके विद्या बलको देख कर इनका शिष्य बन गया और उसने संलग्न होकर इनसे समग्र आयुर्वेद शास्त्र सीखा। इन्द्र ने चिकित्सा शास्त्र में कितनी ख्याति प्राप्त की थी तथा उसने इस विद्या पर कोई ग्रन्थ लिखा था या नहीं, इस के सम्बन्ध में कोई पता नहीं लगता। हां इतना पता मिलता है—कि जिस समय इस मातृभूमि में चिकित्सा का अभाव था या कोई निश्चित चिकित्सा पद्धति नहीं थी, जनता रोग रूपी राक्षसों से घिरी दुःख उठा रही थी उस समय पुलस्त, नारद, वशिष्ठ, अंगिरा, अगस्त्य आदि ६०,७० ऋषियों ने मिल कर यह निश्चय किया कि, भारद्वाज ऋषिको देवलोक भेजा जाय और इनसे प्रार्थना की जाय कि वह देव लोक में जाकर इन्द्र से आयुर्वेद विद्या सीख कर आवें।

भारद्वाज ऋषि देवलोक गये और इन्द्र से आयुर्वेद विद्या सीख कर आये, इन बातों का संकेत आयुर्वेद ग्रन्थों में स्पष्ट है। कई हस्त लिखित आयुर्वेद के ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है, कि जिस समय भारद्वाज आयुर्वेद सीख कर आये तो आत्रेय, गौतम, वशिष्ठ, भृगु, सांख्य, वामदेव, पारिक्ष, भिक्षुआत्रेय, भारद्वाज कपिन्जल, भार्गव, वर्च्चा, देवल, वडिश, शौनिक, मैत्रेय आदि अनेक ऋषि मुनि उनसे मिलनेके लिये उनके आश्रम पर गये। कहते हैं कि भारद्वाज जीने भी अपने नाम से एक संहिता निर्माण की थी। इन्होंने कई शिष्य बनाये उन मेंसे इनके प्रमुख शिष्य आत्रिकुमार या आत्रेय पुनर्वसु थे। जिनकी लिखी आत्रेय संहिता का प्रति संस्करण चरक संहिता के नाम से आज भी वैद्य समुदाय के हाथ में हैं।

इस इतिहास पर विचार करें तो इससे स्पष्ट होजाता है कि हमारा आयुर्वेद इस देश की वास्तविक चिकित्सा पद्धति नहीं थी। बल्कि यह देवलोक की चिकित्सा पद्धति थी। यदि हम देवलोक को इसी पृथ्वीके किसी दूसरे भाग पर मानलें तब भी उसे हम स्वदेशी चिकित्सा पद्धति नहीं कह सकते। भरत खण्ड से भिन्न किसी भी और स्थान का निवासी होने पर वह भारतीय नहीं कहला सकता, न उसकी वह विद्या भारतीय होसकती है।

खैर! जो चीज इस देश में लाई गई और उसे यहां के प्रमुखों ने अपना लिया वह हमारी सम्पत्ति बन सकती है। हम इसी आधार पर आयुर्वेद विद्या को अपनी सम्पत्ति मान लेते हैं।

मध्यकालीन इतिहास

अब देखना यह है कि यह विद्या किस समय भारत खंड में आई, उसके समय का कोई इतिहास भी मिलता है या नहीं ? और इसके सिद्धान्त पहिले से ही स्थिर किए हुए चले आते हैं या पश्चात् स्थिर हुए। हमें भारद्वाज 'ऋषि के समय का तो कोई इतिहास नहीं मिलता। पर आत्रेय जी के समय का सप्रमाण इतिहास मिलता है। यह तो बहुतों को मालूम होगा कि इस भारत खण्ड की भूमि पर आज से २५०० अढाई हजार वर्ष पूर्व इस देश में दो प्रधान विद्या पीठें थी। पूर्व में काशी और पश्चिम में तक्ष शिला। तक्षशिला आजसे ढाई हजार वर्ष पहिले एक विशाल नगर था, जिसके खण्डरात की खुदाई आज कई वर्ष से हो रही है और उन खण्डरातों से प्राप्त वस्तुओं से भी इस विशाल नगर के होने का पूरा २ प्रमाण मिलता है। जिस व्यक्ति को देखना हो पन्जाब प्रान्त में रावल पिण्डी शहर पहुच कर वहा से सरायकाला स्टेशन जाकर तक्षशिला जासकता है। इस विशाल नगरी के खण्डरात तथा उस भूमि से निकली हजारों वस्तुएँ जो प्रदर्शन विभाग में हैं, देख सकता है।

यद्यपि तक्षशिला (तक्कशिला) नामक नगरका वर्णन हमारे किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें नहीं मिलता, पर बौद्ध ग्रन्थों में इस नगर का काफी उल्लेख आया है। बौद्धों के क्षुद्रक निकाय नाम के जातक के ग्रन्थ में एक स्थल पर वर्णन आता है कि तक्ष शिला की विद्यापीठ में एक दिशा प्रमुखाचार्य (दिसप्प

मोखा चारिय=प्राकृत) नाम के पुनर्वसु आत्रेय एक प्रसिद्ध अध्यापक थे। इन आत्रेय जी का समय बौद्ध के कुछ पूर्व है । क्योंकि आगे चलकर उसी ग्रन्थ में जीवक* नाम के एक विद्वान् का उल्लेख आता है जिसको आत्रेय जी का शिष्य लिखा है। यह वैद्य बौद्ध का समकालीन हुआ है, जो बौद्धमतावलम्बी होगया था । इसने बौद्ध सम्प्रदाय में चिकित्सा द्वारा अच्छा नाम प्राप्त किया था। आत्रेयजी के छः प्रमुख शिष्य और हुए हैं अग्निवेश, मेल, जातुकर्ण, पाराशर, क्षीरपाणि, हरीत जिनका उल्लेख आयुर्वेद ग्रन्थों में मिलता है पर, जीवकका उल्लेख नहीं मिलता । सम्भव है कि इसके बौद्ध मतावलम्बी होजाने पर इसको वैदिक मतावलम्बी चिकित्सकों ने अपने ग्रन्थों में नाम लेना उचित न समझा हो, क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों ने भी ऐसा ही किया है । उन्होंने भी आत्रेय जी के किसी और शिष्य का नाम अपने ग्रन्थ में उल्लेख नहीं किया। जब एक ओर पक्षपात है तो दूसरी ओर भी होना स्वभाविक ही है, क्योंकि उस समय का वायु मण्डल पक्षपात पूर्ण था, निष्पक्ष विचार किसी बात पर नहीं रक्खे जाते थे, अपने २ सम्प्रदाय का पक्ष हरएक व्यक्ति करता था। कई व्यक्ति कह सकते हैं कि आत्रेय ऋषि का समय आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व नहीं बल्कि इस से बहुत प्राचीन

---

* नोट — जीवक के जीवन चरित्र पर एक छोटी सी ऐतिहासिक पुस्तक समालोचनार्थ आई है जिसपर आयुर्वेद विज्ञान के मई १९३२ के अंक में प्रकाश डाला गया है ;

है। आत्रेय जी त्रेता या द्वापर में हुए, यह कलियुग की बात है, यह कोई और आत्रेय होंगे। जब इसका प्रमाण मांगते हैं तो कुछ नहीं दिया जाता, इस कथन में कोई दृढ प्रमाण नहीं मिलते, प्रत्युत इसके विपरीत उनके कलियुग में होने का प्रमाण उनके ही द्वारा उपदेशित हारीत संहिता में मिलता है। हारीत संहिता पहिले अध्याय के आरम्भ में आयुर्वेद का उपदेश देते हुए आत्रेय जी हरीत के प्रति कहते हैं कि—

अल्पायुषोऽल्पवक्तारः स्वल्प शास्त्र विशारदा. ।
अल्पा व धारणे शक्ताः कलौ जाता इमे नराः ॥
अल्प. कलियुगाश्राय नरोपद्रव कारणम् ।
कथ पुत्र प्रवक्षामि विस्तरेण तवागदम् ॥

इसी प्रकार भेल संहिता में भी एक स्थल पर कलियुग में उपदेश करने का उल्लेख है। इस समय जितने भी बड़े २ इतिहासज्ञ हैं सभी का निश्चय है कि आत्रेय जी कलियुग में ही हुए। डाक्टर प्रफुल्लचन्द्रराय जी ने भी अपने हिन्दू कैमिस्ट्री नामक ग्रन्थ मे इसी बात को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

जब आत्रेय जी के होने का समय कलियुग है तो अवश्य ही भारद्वाज जी का समय भी कलियुग माना जासकता है क्योंकि गुरु और शिष्य समकालीन होसकते हैं ना कि विषम कालीन।

आत्रेय जी के षट् शिष्यों के पश्चात् उनके और कौन २ से प्रसिद्ध शिष्य हुए तथा उनके आगे कौन २ शिष्य सम्-

दाय बना, इसका कोई इतिहास नहीं मिलता। आत्रेय जी के लग भग कोई छः सौ वर्ष पश्चात् चरक जी हुए। प्रमाण से इनका समय लगभग छः सौ वर्ष पश्चात् निकलता है। इन्होंने आत्रेय कृत संहिता (जो आत्रेय द्वारा संकलित हुई थी) उसका प्रति संस्कार किया, जिसका नाम उन्होंने चरक संहिता रक्खा। बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि चरक जी काश्मीर में हुए, यह केकैय (काश्मीर) देश के कनिष्क नामक प्रतापी राजा के राज्य वैद्य थे। कनिष्क राजा के राजत्वकाल का समय ईसा से लगभग ५०-६० वर्ष पश्चात् निकलता है। चरक जी सन् ७८ ईसवी में हुए, ऐसे प्रमाण मिलते हैं। चरक जी के कौन २ से शिष्य हुए तथा उनके आगे चिकित्सा क्रम का इतिहास क्या है? कुछ पता नहीं लगता। चरक के लगभग ७०० वर्ष पश्चात् वाग्भट जी हुए। वाग्भट जी की जन्मभूमि मुलतान थी और इनके समय का थोड़ा बहुत इतिहास मिलता है। वाग्भट जी के पश्चात् के चिकित्सकों का भी कुछ २ इतिहास मिलता है। खैर! हम इस इतिहास भाग को यहीं छोड़ अब अपने विषय की ओर आते हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन सिद्धान्त

अब देखना यह है कि प्राचीन चिकित्सकों के आयुर्वेद विषयक सिद्धान्त क्या थे? वह त्रिदोषवाद को मानते थे या नहीं। इस समय हमारे सामने प्राचीन पुस्तकों में से अग्नि-वेश कृत अंजन निदान तथा भेलकृत भेल संहिता और हारीत कृत हारीत संहिता है। इस के पश्चात् आत्रेय संहिता का प्रति

संस्कृत रूप चरक है। वैद्यों में उपरोक्त तीनों पुस्तकें इतनी प्रमाणिक नहीं मानी जाती जितनी कि चरक संहिता। चरक संहिता वास्तव में इस समय आयुर्वेद सिद्धान्तों के लिये स्तम्भ ग्रन्थों में से है। इसी लिए हम भी इसी को प्रमाणिक मान कर इसी के आधार पर प्राचीन त्रिदोष सिद्धान्त को आपके सामने रक्खेंगे।

चरक संहिता सारा संवाद रूप में लिखा ग्रन्थ है, और इसका आरम्भ आत्रेय जी के मुख से होता है। चरक संहिता का चाहे प्रति संस्करण हुआ हो या मूल ग्रन्थ ही हो हमें यह मानना पडता है कि चरक संहितामें वर्णित सिद्धान्त आत्रेय जी के समय में प्रचलित सिद्धान्त थे जो उस समय से लेकर चरक जी के समय तक बराबर बने रहे।

चरक संहिता को पढने से ज्ञात होता है कि आत्रेय जी जिस समय हुए उस समय दर्शनवाद का ही प्राबल्य था। आत्रेय जी स्वयम् वैशेषिकमत के अनुयायी थे। पर उनकी विद्वत्ता जगत प्रसिद्ध थी, प्रत्येक सम्प्रदाय के मनुष्य उनके पास आकर उनसे शिक्षा प्राप्त करते थे। एक बार अग्निवेश जी जब उनके पास गये तो—

> सांख्यै संख्यात संख्येयैः सहनीयम् पुनर्वसुम्।
> जगत् हिताय प्रपच्छ वह्निवेश स्वसशंयम्॥

बहुत से सांख्य सम्प्रदाय के अनुयायियों के साथ आत्रेय जी को बैठा देखकर जगद् हितार्थ सशंययुक्त हो प्रश्न किये। चरक संहिता के किसी भी अध्याय को पढो जहां देखो दार्श-

निक युक्तियों का प्राबल्य दिखाई देगा और दार्शनिक शैली (तर्क वाद) से ही प्रत्येक सिद्धान्त स्थिर किये गये मिलेंगे । अनेक बातें कल्पना से निश्चित की हुई हैं । आपने सूत्र स्थान के एक स्थल पर स्पष्ट लिखा है 'हमने जो कुछ कहा वह बहुत करके अनुमान और आप्त प्रमाण तथा युक्ति से सिद्ध है' और इससे भिन्न चरक के शारीरिक स्थान अध्याय सात में वह स्वयम् कहते हैं—

एतावद् दृश्यम्—शक्यमभिनिर्देष्टुमनिर्देश्यमतः परं तर्क्यमेव । तद्यथा-नव स्नायु शतानि, सप्तशिरा शतानि, द्वेधमनीशते, पञ्चपेशी शतानि, सप्तोत्तरमर्म शतं, द्वेसान्धिशतं, एकोनत्रिंशति शत सहस्राणि नव च शतानि षट् पञ्चशत शिराधमनी नामाणुशः प्रविभज्यमानानां मुखाग्र परिमाण तावन्ति चैव केशश्मश्रुलोमानीत्येे तद्यथावत् संख्यात त्वक् प्रभृति दृश्यमतः पर तर्क्यम् ।

अर्थात् जो पीछे कहे गये हैं वह ५६ अंग तो प्रत्यक्ष देखने में आते हैं पर कितने ही अदृश्य अंग हैं जो केवल तर्क से जाने जाते हैं ।

यथा—स्नायु ६०० शिरा ७०० धमनी २०० पेशी ५०० मर्म १०७ सन्धि २०० धमनी दोनों जो शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हैं उनकी संख्या २६६६५ है इतने ही केश और इतने ही प्रस्वेद वाही स्रोत तथा लोम कूप हैं इन में लोम कूप त्वचा में होने के कारण दिखाई देते हैं इन से परे के (भीतर के) तर्क से जाने जाते हैं ।

इस प्रकार अस्थि की गणना में भी तर्कना से ही काम लिया गया है। उस तर्क प्रधान समय में ही त्रिदोषवाद का जन्म हुआ।

त्रिदोष की स्थापना कैसे हुई ?

यह तो चरक के वात कलाकलीय नामक अध्याय से स्पष्ट है। क्योंकि उस समय यह बात सिद्धान्त रूप में आचुकी थी कि जगत् पञ्चभूत मय है और मनुष्य शरीर की रचना भी आकाश, अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी नामक पाच भूतो के सम्मेलन से हुई। माता का शोणित और पुरुष का शुक्र यह दोनों पञ्च भूतात्मक पदार्थ हैं और इन दोनों के संयोग समय में जब चेतना इस में आकर मिलती है तो पुरुष की उत्पत्ति होती है।

संसार पञ्चतत्व मय है, इस बात को उस समय ही नहीं माना जाता था प्रत्युत भारत का आज भी प्रत्येक सम्प्रदाय ससार को पचतत्वमय ही मानता है। हम देखते हैं कि इसी पञ्चभूतो को त्रिदोषवाद की स्थापना में कारण व प्रधान माना गया है। पच भूतों के गुण तीन दोषों मे लाये गये हैं और-इन्हीं भूतो के गुण स्वभाव वाली वस्तुऐं-अनुमान से-शरीरस्थ कर उनका सम्बन्ध त्रिदोष से जोड़ा गया है। इसको देखना हो तो चरक में कहे वात कलालीय नामक १२वें अध्याय को आद्योपान्त पढ जाना चाहिये। इस अध्याय को पढने से स्पष्ट होजाता है कि उस समय व्याधियों के कारण पर विवाद था। इस विवाद का अन्त करने के अर्थ

अनेक चिकित्सक व ऋषिगण पुनर्वसु आत्रेय जी के आश्रम पर आये थे। उस समय प्रमुख २ व्यक्ति जो इस विवाद में सम्मिलित हुए वह निम्न थे—

काकायन, सांकृत्यायन, मौद्गल, शरलोम, हिरण्याक्ष, शौनिक, भद्रकान्त, भरद्वाज, भिक्षुआत्रेय, (यह बौद्ध मतावलम्बी आत्रेय था) वाल्हीक, धामार्गव, वार्षोविर्द, मारीचि, कश्यप, काश्यप, निमि, शाकुन्तेय, वामक, भृगु, भार्गव, च्यवन, वामदेव, अंगिरा, और आत्रेय जी के शिष्य वर्ग।

इन चिकित्सकों ने आत्रेय जी से प्रार्थना की, कि हम सब आपकी अध्यक्षता में रोगो के मूल कारण को निश्चय कराना चाहते हैं। क्योंकि हम सब एक शैली से चिकित्सा करते हुए भी रोगों के कारणों पर भिन्न २ मत रखते हैं और परस्पर विचार करते समय विवाद इतना बढ़ जाता है कि किसी निर्णय तक नहीं पहुच पाते, इस विवाद का आप अन्त करिये। उस वात कलाकलीय अध्याय को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि रोग के मूल कारण पर अनेक मत थे। परन्तु जिस मत को सिद्धान्त रूप देना आत्रेय जी को अभीष्ट था वही अश वात कलाकलीय नामक १२ वें अध्याय में दिया गया है। इस अध्याय में त्रिदोषवाद को सिद्धान्त रूप दिया गया है और वह किस तरह निश्चय हुआ इसको हम सारा का सारा चरक सहिता से उद्धृत करते हैं।

प्रश्न–(१) वायु में कौन २ से गुण हैं ?

(२) इसके प्रकोप का कारण क्या है ?

(३) इस के प्रकोप से व्याधियां कैसे होती हैं ?

(४) यदि यह प्रकोप को प्राप्त होता है तो इसके प्रशमन के उपाय क्या हैं ?

(५) वायु का सम्पर्क किसी के साथ नहीं, न यह पतला है न गाढा, और न यह स्थिर है ऐसी दशा में इसके साथ प्रकोपकर्त्ता या शमन कर्त्ता द्रव्यों का सम्पर्क किस तरह होजाता है ?

(६) कुपित अथवा अकुपित वायु शरीर के भीतर या बाहर जब विचरती है तो उस समय यह क्या कार्य करती है ?

इस पर कुश जी बोले ! वायु में रुक्षता है, लघुता है, शीतलता है, दारुणपन है अर्थात् यह रौद्र रूप भी है खर (तेज) है, विशद है यह छ गुण इस में पाये जाते हैं। इस पर भारद्वाज जी बोले कि जो कुछ कुश जी ने कहा ठीक है, इन्हीं गुणों के आश्रित वायु विवर्द्धित व कुपित होता है। बाल्हीक जी कहने लगे स्निग्ध, गुरु, उष्ण, श्लक्ष्ण, मृदु, पिच्छल तथा घनकारी द्रव्योंके द्वारा उक्त वायु का प्रभाव शान्त होजाता हैं अर्थात उक्त षट गुण युक्त द्रव्य इसके शामक हैं। इस पर वडीशधामार्गव जी ने कहा कि जो कुछ कहा गया है सच है। यह कुश जी के कहे द्रव्यों का गुण शरीरस्थ वायुको प्रकुपित करते हैं और बाल्हीक जी के कहे द्रव्यों के गुण प्रकुपित वायु को शान्त करते हैं।

शरीर में कुपित वायु के कर्म

इस बात की पुष्टि में वार्योविद जी ने निम्न लिखित पंक्तियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुमान और आप्त वाक्यों द्वारा अच्छी

तरह पुष्टी की। आप कहने लगे यथार्थ में वायु ही शरीर तन्त्र और यन्त्र का धारण करने वाला है और यही कार्य भेद से प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान नाम से पांच रूपों में विभक्त होकर शरीर में रहता हुआ प्रत्येक प्रकार की शारीरिक क्रियाओं का प्रवर्त्तक है, उत्कर्ष-शक्ति का नियन्ता है, मानसिक शक्तियों का प्रणेता है, सारी इन्द्रियों का द्योतक है, इन्द्रिय जन्य विषय का मन से सम्बन्ध कराने वाला है, शरीरस्थ धातुओं को क्रम में बांधने वाला है, शरीर के सधिबन्धनों को ताने हुए हैं, वाणी का देने वाला है, अर्थात बिना वायु के हम शब्दोच्चारण नहीं कर सकते। शब्द और स्पर्श यह दोनों इसकी प्रकृति हैं, श्रोत्र और स्पर्श इसके मूल हैं अर्थात् इन से इसका बोध होता है। हर्ष और उत्साह इसकी योनि है। वायु अग्नि को बढाने वाला है, दोषों को सुखाने वाला है, मल को बाहर निकालने वाला है और शरीर के सूक्ष्म व स्थूल स्रोतों को स्वच्छ रखने वाला है, गर्भस्थ बालक की आकृति को बनाने वाला है, आयु को स्थिर रखने वाला है। जब यह कुपित होता है तो शरीर को अनेक प्रकार की व्याधियों से प्रपीड़ित करता है ऐसी अवस्था मे बल, वर्ण और आयु को नष्ट कर देता है। कुपित हुआ वायु मन को उन्मादित करता है, इन्द्रियों को नष्ट करता है, गर्भ को गिरा देता है, तथा उसकी बनती हुई आकृति को बिगाड़ देता है और प्रसव कालमें अति विलम्ब करता है अर्थात प्रसव को रोक देता है, इस अवस्था मे रोगी पर भय, शोक, मोह, दीनता

प्रलापादि उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है तथा प्राणों (श्वास प्रश्वासगति) का अवरोध करता है। यह तो हमने शरीर में प्रकुपित अकुपित वायु के कर्म कहे हैं, अब शरीर से बाहर इसके क्या २ कर्म हैं उसे सुनिये।

जगत् में अकुपित वायु के कर्म

इस जगत में वायु के बड़े भारी काम देखे जाते हैं। वायु ही पृथ्वी को धारण किये हुए है, अग्नि को प्रज्वलित करता है, सूर्य चन्द्र और तारागणों को अपनी २ गति में स्थिर रखता है, बादलों को उत्पन्न कर वर्षा कराता है, जल स्रोतों का प्रवर्तक है। वृक्षों में पुष्प और फल व वनस्पतियों को उत्पन्न करता है, ऋतुएं बदलता है। सोना चांदी, लोहा आदि धातुओं का पृथ्वी के भीतर रचना करता है और उन धातुओं में घनत्व, आकृति भार का सम्पादन करता है, बीजों में अंकुरोत्पत्ति करता है, कृषि को बढाता है—क्लेदित करता—तथा पोषण करता है। यह तो अकुपित वायु के कर्म हैं। यदि यही वायु कोप को प्राप्त होजाय तो उस के निम्न लिखित कर्म देखे जाते हैं। भूमण्डल पर जब वायु कोप को प्राप्त होता है तो पर्वत के शिखरों का खण्डन करता है, वृक्षों को उखाड फैंकता है, समुद्र में ज्वार भाटा उत्पन्न करता है, नदियों, झीलों, सरोवरों में बडी २ तरंगें उत्पन्न करता है, पृथ्वी और मेघों में भयकर गर्जन उत्पन्न करता है। अन्तरिक्ष को कोहरा, धूल, बालु, मछली, मेंढक, सर्प, क्षार, रुधिर, पत्थर, हिमोपल आदि से परिपूरित कर इनकी वर्षा

करता है। मेघोंसे बिजली गिराता है, ऋतुओंमें विकार अर्थात् विपरीतता उत्पन्न करता है, फसल को नष्ट कर डालता है, प्राणियों का अनेक तरह से संहार करने लगता है, प्रलयकारी मेघों को लाकर सूर्य, अग्नि, व साधारण वायु का विसर्जन करता है। कहांतक कहें यह सर्व गुण सम्पन्न वायु उत्पत्ति व विनाश का हेतु है। प्राणियों का सृजनहार और नाशकर्त्ता है, सुख दुःख का प्रधान कारण है। वायु ही संहार काल में यम, उत्पत्ति काल में ब्रह्मा, रचना करने में देवता, जगत् रचना में विश्वकर्मा, विश्वरूप, सर्वगन्ता, सर्व कर्त्ता है। वायु ही अपने सूक्ष्म व विभु रूप से व्यापक विष्णु भगवान् है। वार्योविद जी की उक्त बातें सुन कर सारे ही विस्मित हुए। उन में से मरीचि जी कहने लगे कि यदि यह बात सही है तो आयुर्वेद शास्त्र की क्या सामर्थ्य जो वायु के रूप को समझ सके या इसका वर्णन कर सके। दूसरे जितना कुछ प्रकुपित और अकुपित वायु के रूप का वर्णन किया गया है आयुर्वेद से इसका क्या प्रयोजन? इसका पुनः वार्योविद जी ने उत्तर दिया—कि इस कथाका इस स्थान पर यह प्रयोजन है कि यदि वैद्यगण वायुको अत्यन्त बलवान्, महान् पौरुषेय, प्रबल—गतिकारी, भयकर, उपद्रवकारी न जानेंगे तो शरीर में वायु के सहसा कुपित होजाने पर उसके रोकनेका प्रयत्न कैसे करेंगे।

वायु की यथार्थ स्तुति करना आरोग्यता बल वर्ण की वृद्धि के लिये है। स्तुति से ही तेज, उपचय, ज्ञान बुद्धि और आयु की वृद्धि होती है।

पित्त के कर्म

इसके पश्चात् पुन. मरीचि जी बोले—कि शरीर के भीतर पित्तान्तर्गतऊष्मा ही कुपित होने पर शरीर में अशुभ अर्थात् रोग उत्पन्न करती हैं और अकुपित रहने पर मनुष्य को स्वस्थ, बल वर्णयुक्त, दीर्घायु बनाती है। अर्थात् ऊष्माही विकार व स्वास्थका कारण है। इस ऊष्मा के प्रभाव से ही भोजन का पचना न पचना, दिखना न दिखना, प्रकृति का ठीक रहना, बिगड़ जाना वर्ण का अच्छा होना या बदल जाना बलका बनना या नष्ट होजाना, भय का उत्पन्न होना या निर्भय बनना, शान्त होना या क्रोधी बनना, प्रसन्न होना या दुःख मोह में ग्रसित रहना आदि २ बातें सब पित्त की ऊष्मा के न्यूनाधिक या कुपित अकुपित होने पर होती हैं।

श्लेष्म के कर्म

इस के पश्चात मरीचि के कथन को सुनकर कश्यप जी कहने लगे कि सोम (शीतलता) ही शरीर में श्लेष्म के अन्तर्गत रहता है और जब वह कुपित होता है तो शरीर में अशुभता (रोग) उत्पन्न करता है और जब अकु-पित्त या सात्म्य रूप होता है तो शरीर में शुभ लक्षण उत्पन्न करता है। सोम के ही शरीर में शान्त रहने से दृढता आती है, शरीर पुष्ट होता है पुन्सत्व बढता है, ज्ञान, बल, बुद्धि की वृद्धि होती है। इसके विपरीत सोम के कुपित होने पर

शरीर में शिथिलता, कृशता, आलस्य, नपुन्सकत्व, अज्ञान मोह आदि उत्पन्न होते हैं।

कश्यप जी की बात सुन कर आत्रेय जी कहने लगे आप सब महात्माओं ने मनुष्यों के शुभाशुभ करने वाली बातों के सम्बन्ध में बहुत ठीक कहा। निश्चय ही शरीर वात, पित्त, और श्लेष्म प्रकृति भूत, अर्थात सात्म्य रूप रहने पर मनुष्य की कर्मेन्द्रिय व ज्ञानेन्द्रियों को ठीक रखते हैं तथा अत्यन्त बल, वर्ण सुख व दीर्घ जीवन देते हैं। इनके ही ठीक रहने पर मनुष्य अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति करता है। इनके ही कुपित होने पर मनुष्य अनेक प्रकार की विपत्तियों से ऐसा ग्रसित होजाता है जैसे सर्दी, गर्मी, वर्षा के न्यूनाधिक होने पर प्राणी मात्र दुःखी होजाते हैं।

आत्रेय जी के वचन सुन कर समग्र सभा ने हर्ष ध्वनि के साथ आत्रेयजी की प्रशंसा की। इस प्रकार वात, पित्त कफ के ऊपर 'महर्षीणां मतिर्या या पुनर्वसु मतिश्चया'—भिन्न २ ऋषियों के मत व आत्रेय जी का मत हम ने आप सब के सामने रख दिया है।

इस अध्याय में हमारे प्राचीन त्रिदोषवाद की स्थापना का रहस्य तो स्पष्ट होरहा है। अब तीन दोषों को 'दोष धातु मल मूलं हिशरीरम्' शरीर का मूल कारण किस तरह माना गया इस को भी स्पष्ट करते हैं।

जिन आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी को सृष्टि

का कारण माना गया है उन पांच भूतों के गुण स्वभाव क्या हैं ? यह भी यहां पर हम आत्रेय जी के मत से दे देना चाहते हैं।

आकाशोद्‌भूत द्रव्यों में गुण

आत्रेय जी कहते हैं कि मृदुता, लघुता, सूक्ष्मता, श्लक्ष्णता और शब्द यह आकाश के कारण द्रव्यों में उत्पन्न होते हैं अर्थात् यह आकाशीय गुण है।

अग्न्युद्‌भूत द्रव्यों में गुण

उष्णता, तीक्ष्णता, सूक्ष्मता, लघुता, रूक्षता, विशदता और रूप यह अग्नि तत्व के कारण द्रव्यों में उत्पन्न होते हैं अर्थात् यह अग्नि के गुण हैं।

वायूद्भूत द्रव्यों में गुण

लघुता, शीतलता, रूक्षता, खरता, विशदता, या उज्वलता सूक्ष्मता स्पर्श यह वायु के कारण द्रव्यों में उत्पन्न होते हैं। अर्थात् यह वायु के गुण हैं। सूक्ष्मता को छोड कर बाकी गुणों को वात कलाकलीय अध्याय में स्पष्ट माना है।

जलोद्‌भूत द्रव्यों में गुण

द्रवता, स्निग्धता, शीतलता, मृदुता, पिच्छलता, मन्दत्व सरत्व और रस यह गुण जल तत्व के कारण पदार्थों में उत्पन्न होते हैं। अर्थात् यह जल के गुण हैं।

पार्थिवोद्भूत द्रव्यों में गुण

भारपन, काठिन्य, खरत्व, मन्दत्व, स्थिरता, विशदता, प्रगाढत्व, स्थूलता और गन्ध यह गुण पृथ्वी के कारण द्रव्यों में उद्भूत होते हैं. अर्थात् यह पृथ्वी के गुण हैं।

विचारणीय बातें

उक्त गुणों में से मृदुता आकाश का गुण भी मानी गई है और जल का गुण भी; इसी तरह लघुता को आकाश का गुण माना है वायु का गुण भी और अग्नि का गुण भी। यही हाल सूक्ष्मता का है। इसी प्रकार एक ओर शीतलता वायु का धर्म माना है तो दूसरी ओर जल का भी माना है। ऐसे ही रुक्षता वायु और अग्नि दोनों का गुण मानी गयी है खरत्व के सम्बन्ध में भी कहा है कि खर वायु है और पृथ्वी भी है। विशद वायु भी है अग्नि भी, और पृथ्वी भी। पाठक यह अच्छी तरह देखलें कि तत्व भिन्न २ हैं, पर उनके गुण मिश्रित हैं। खैर! जो कुछ हो, चाहे यह निरे अनुमान हों पर शास्त्र सम्मत माने जाते है। इन में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पाच गुण अवश्य जुदे २ माने गये हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध यह पचतन्मात्राएँ भी कहाती हैं। तन्मात्रा का अर्थ है उनकी (पञ्चभूतों की) सूक्ष्मावस्था, जिसका प्रादुर्भाव या प्रत्यक्ष निदर्शन प्राणियों मे होता है अर्थात् पञ्चभूतों का प्रत्यक्षी-करण साधन या ज्ञान इन भूतात्मक मात्राओं से होता है अर्थात् हम अपनी नासागन्ध से गन्धवती पृथिवी को जानते हैं। इसी तरह स्पर्श से रूप

सहित स्पर्शवान् वायु को जानते हैं। यदि हमारे पास यह ज्ञानेन्द्रिय न हों या किसी कारण से खराब होजायें तो हम तत्वों को नहीं जान सकते। गुण सदा गुणी के साथ रहता है इसी लिये यहां भी गुण द्वारा गुणी का बोध करते हैं। यह है दार्शनिक पक्ष। जिसकी सर्व प्रथम विवेचना करनी है, तभी त्रिदोष का रूप स्पष्ट होसकता है इस तरह नहीं।

तत्वों का लक्षण

हमारे यहां पांच भूतों को तत्व माना गया है। पर यह किसी भी शास्त्रने स्पष्ट नहीं बताया कि तत्वोंका मुख्य लक्षण क्या होना चाहिये? तत्व या जगत का मूल पदार्थ हम जिसे मानते हैं क्या उसका निश्चित लक्षण कुछ नहीं? यह बात नहीं। वास्तव में देखा जाय तो अनुसन्धानसे ज्ञात होता है कि प्राचीन ऋषियों के समय तक कोई ऐसा साधन नहीं मिला था जिससे तत्वों के लक्षण बताये जासकते। इस लिये जिसके जो लक्षण जितने मिले उसी के बताये गये पर सब तत्वों के नहीं मालूम हो सके। इसको उन्नीसवीं शताब्दी में जाकर मालूम किया गया और वह निम्न हैं।

(१) जो तत्व रूप सत्ता या द्रव्य हो उसका परम सूक्ष्म रूप अवश्य होना चाहिये।

(२) उस में घनत्व, आयतन, भार तथा रूप यह चार बातें भी अवश्य मिलनी चाहिये।

(३) एक तत्व दूसरे तत्व से गुण स्वभाव में सदा भिन्न होना चाहिये।

(४) तात्विक पदार्थ का ऐसा अन्तिम रूप मिलना चाहिये जिसको बिना प्रबल शक्ति के तोड़ा न जा सके।

(५) जो तत्व सत्तात्मक द्रव्य हों उनमें सृष्टि के अनेक पदार्थ बनने चाहिये पर वह किसी और से न बनने वाले हो अर्थात् स्वतः स्वयम्भू रूपधारी हो। दूसरे—तत्व पदार्थ जब सृष्टि रचना के समय और तत्व पदार्थों से मिलें तो उनका असली परम सूक्ष्म रूप या वास्तविक सत्तात्मक रूप नष्ट न होकर बना रहे पर उनके मेल से जो पदार्थ सृजित हो उसका आयतन, घनत्व, भार, रूप सब बदल जाय।

(६) सृष्टि रचना के समय जब दो चार तत्व परस्पर मिलें तो उनका सम्मेलन एक निश्चित अनुपात में रहे, उसको यदि कोई घटाना बढ़ाना चाहे तो घटा बढ़ा न सके। ऐसे लक्षण युक्त स्वयम्भू रूप सत्ता या द्रव्य को तत्व कहा या माना गया। उक्त छः शर्तें जिस मौलिक कही जाने वाली वस्तु या तत्व में न घटे उसे सृष्टि का कारण या मूल (तत्व) नहीं माना जा सकता।

जिस समय उक्त सिद्धान्त स्थिर हुआ इन लक्षणों युक्त तात्विक पदार्थ की खोज जारी हुई। हमारे शास्त्र सम्मत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पांच तत्वों में उक्त लक्षण ढूंढे जाने लगे, पर एक भी तत्वों के लक्षणों में पूरा न उतरा।

हमारी गन्धवती पृथिवी में कम से कम १२ तत्व ऐसे मिले जिनमें तत्वों के लक्षण घटते थे। जल भी उदजन, ऊष्मजन नामक दो तत्वों का यौगिक निकला, वायु

भी समीरन और ऊष्मजन नामक दो तत्वों का मिश्रित स्वरूप सिद्ध हुआ। इससे आगे जब अग्नि पर प्रयोग हुआ तो इसका किसी तरह से भी तात्विक अस्तित्व सिद्ध नहीं हुआ। प्रत्युत यह शक्ति का एक विवर्धित रूप सिद्ध हुआ। और आकाश की तो कुछ न पूछिये यह तो बिचारा मारे लज्जा के ऐसा शून्य में विलीन हुआ कि आज तक उसका कहीं भी पता नहीं लगता। इस प्रकार पाच भूतों में से एक में भी तत्वों के लक्षण न घटे। तत्वों के लक्षण भूतों की माया बन गई। कई मन चले शास्त्री अब भी यह कहने से नहीं रह सकते कि-अजी! इनकी जाच करना साधारण काम नहीं, प्रत्युत बडा कठिन काम है। आधुनिक अनुसन्धानिकों ने कल्पना से ही काम लिया होगा। ऐसे मनचलों को स्मरण रखना चाहिये कि प्रयोगवाद में केवल तर्कना के घोडे नहीं दौडाये जाते; प्रत्युत उचित स्थान पर ही कल्पना से काम लिया जाता है।

इस समय यह तो संसार के सारे विद्वान् मान चुके हैं कि कोई भी तत्व हो उसका अन्तिम सत्तात्मक रूप अवश्य होता है जिसका नाम परमाणु है।

अथवा—जलान्तर्गते भानौ सूक्ष्म यद् दृश्यते रज.।

तस्य षष्टि तमो भागः परमाणु स उच्यते ॥

'त्रसरेणु बुधैः प्रोक्त. त्रिंशत परमाणुभिः।'

त्रसरेणु का तीसवा भाग परमाणु या साठवां भाग परमाणु कहाता है। ऐसा परमाणु का लक्षण हमारे यहा भी किया है। यह भी कल्पना ही है पर सच्चाई के समीप तक

ले जाती है। परमाणु वास्तव में त्रसरेणु के शतांश भाग से भी छोटा होता है। पर स्थूल रूप से उसकी सूक्ष्मता का अनुमान करने के लिये यह लक्षण उपयोगी समझा जा सकता है।

जितने भी तात्विक पदार्थ सृष्टि मे हैं या होंगे सबका परम रूप या वास्तविक रूप परमाणु ही है। इन परमाणुओं में घनत्व अर्थात् गाढापन या दृढ़ता होती है दूसरे उनका आयतन अर्थात् व्यास फैलाव या आकार होता है। तीसरे जिनमें कुछ न कुछ घनत्व और आयतन हो उसमें भार भी होना एक आवश्यक बात है। चौथे जो आकार रखता है उस में रूप या वर्ण (रंग) भी होना चाहिये। यह बातें इसके सत्तात्मक रूप को बोध कराने वाली अवश्य ही पाई जाती हैं।

इस समय तक सृष्टि मे भिन्न भिन्न ९२ प्रकार के ऐसे तत्व मिले हैं जिन में उक्त चारों बातें सही २ देख ली गई हैं। इन ९२ तत्वों में से कोई भी ऐसा तत्व नहीं जिसको तोड़ा मरोड़ा जा सके या घटाया बढाया जासके। न आज तक इन तत्वों के उक्त घनत्व, आयतन भार व रूप को ही कोई बदल सका है। यह सब भिन्न २ गुण, स्वभाव, प्रभाव रखते हैं, सब की शक्तियां भिन्न २ हैं। और इनका संयोग व्यापार भी निश्चित है अर्थात् यह जब आपस में मिलते हैं तो नियमित संख्या या अनुपात में ही मिलते है। यह नियम के इतने प्रबल पाबन्द हैं कि जिसको बदलना बड़ा ही कठिन कार्य है।

इन ६२ तत्वों में से ११ तत्व तो ऐसे हैं जो वायु रूप धारी हैं। जैसे उदजन, समीरन, ऊष्मजन आदि जिनको हम वायव्य कहते हैं। वायव्य रूपधारी तत्वों को द्रव करना या ठोस बनाना साधारण काम नहीं। यद्यपि वायु समेत इन ११ वायव्यों में से ५-६ को द्रव और द्रव से ठोस भी बनाया जासकता है और इनके द्रव व घन रूप की परीक्षा भी की जा चुकी है, पर सदा इनको द्रव या ठोस रखना कठिन ही नहीं असम्भव है। इसी तरह ११ के लग भग ऐसे तत्व मिले हैं जो अधातु हैं अर्थात् जिनमें धातुओं के से लक्षण नहीं या न्यूनाधिक मिलते हैं। यथा—कज्जल, स्फुर, सुहागा, संखिया आदि। सत्तर तत्व सृष्टि में ऐसे मिले हैं जो धातु रूप रखते हैं। जैसे सोना, चांदी, लोहा, पारा, सीसा, यशद, एलूमीनियम आदि। कई वैद्य कहेंगे कि यह धातुएं तो पृथ्वी तत्व से उत्पन्न होती हैं न कि यह स्वतः तत्व हैं। वैद्यों को स्मरण रखना चाहिये कि हमारी पृथ्वी अनेक तत्वोंका यौगिक है। पृथ्वी पर ही ६२ तत्व मिलते हैं कहीं और जगह नहीं। पृथ्वी की मिट्टी भिन्न तत्वों का यौगिक है। लाल, पीले, हरे, काले अनेक प्रकार के पत्थर या खनिज द्रव्य भिन्न २ तत्वो के यौगिक हैं। इन्हीं भिन्न २ खनिजों से वह तत्व रूप वस्तुएं निकाली गई हैं। यह ६२ प्रकार के तत्वो में से प्रत्येक तत्व अपना २ घनत्व, आयतन, भार व रूप निश्चित रखते हैं। हर एक का घनत्व, आयतन, भार-सही २ निकाल लिया गया है। यथा—

सोने के परमाणु का आपेक्षिक घनत्व १९.३२ आयतन १०.१५, भार १९७.२. है तथा इसका वर्ण पीला, चमकदार

है । चांदी के परमाणुका घनत्व १०'५, आयतन १०'२ भार १०७'८८ है यह श्वेत वर्ण की चमकदार होती है । कली के परमाणुओं का घनत्व ७'२.६ परमाणु भार ११८'७ वर्ण में यह भी श्वेत है पर चांदी के वर्ण से इसकी श्वेतता भिन्न है । पारे के परमाणुओं का घनत्व १३ १६५ भार २००'६ है । यह भा श्वेत चमकदार द्रव धातु है । एलोमीनियम का घनत्व २'६५ आयतन -१०'४ तथा भार २७'१ है । यह भी वर्ण में नील झाईं लिए श्वेत है । इसी प्रकार यशद के परमाणुओं का घनत्व ६'६ आयतन ६'२ परमाणुभार ६५'३७ है । यह भी श्वेत वर्ण की धातु है । इसी प्रकार कज्जल, गन्धक, संखिया, स्फुर आदि के परमाणुओं का भिन्न २ घनत्व, आयतन, भार व वर्ण है । ऐसे ही उदजन, समीरन, ऊष्मजन, लवणजन आदि वायव्यों के परमाणुओं की भिन्न २ रचना रूप हैं । इन सारे तत्त्वों में से उदजन तत्त्व घनत्व में, आयतन में, भार में सारे तत्त्वों से हलका व छोटा है । इसीलिए वैज्ञानिकों ने इसको इकाई मानकर उसके अनुसार हर एक तत्त्वों का भार, घनत्व आदि निकाला है । किसी तत्त्व का आयतन न ज्ञात हो घनत्व और भार ज्ञात हो आप उस परमाणु के भारको घनत्व से भाग दीजिये आयतन निकल आवेगा । इसी तरह आयतन से भार को गुणा करने पर घनत्व निकल आता है । यह आजकल रसायन शास्त्र का विषय बना हुआ है । जिसमें शंका या भ्रम के लिए स्थान नहीं । इस विषय को विस्तार से देखना हो और पूर्ण जानकारी प्राप्त करना हो तो हमारे लिखे सृष्टि

विज्ञान नामक ग्रन्थ को देखो ।*

पंच तत्वों के गुणों की विवेचना

अब रही पाच भूतों के गुणों की बात। हम यहां पर साधारण रूप से उसकी विवेचना देते है, क्योंकि यह विषय इस ग्रन्थ का नहीं।

शास्त्र में आकाश, अग्नि, वायु आदि के मृदु, लघु, सूक्ष्मादि बीस गुण माने है जिसको पदार्थों का गुण कहा जाता है। वास्तव में वह पदार्थों का क्रियात्मक लक्षण है। और यह गुण या क्रियात्मक लक्षण ऐसी सत्ता है जिसको मालूम कर लेने पर गुणी को या लाक्षणिककी वास्तविक स्थिति जानी जा सकती है। क्योंकि यही गुण या क्रियात्मक लक्षण पदार्थों का स्वाभाविक धर्म भी कहाता है जो पदार्थों से भिन्न नहीं किया जा सकता, न इसको कोई बदल ही सकता है जैसा कि हमने पीछे बतलाया है।

अब हम शास्त्र सम्मत-"शब्दगुणमाकाशम्"-शब्द आकाशका मुख्य गुण है ऐसा मानकर इसकी परीक्षा करें तो शब्द आकाश का गुण सिद्ध नही होता। उदाहरण—

यह तो सब मानते हैं कि आकाश सर्व व्यापक है, कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहा आकाश न हो। हम एक बन्द डब्बा ऐसा लेते है जिसके भीतर की वायु बाहर निकाल सकें। उस डब्बे में कुछ पत्थर की डलियां डालकर उसे खड़खड़ावें तो हमें डलियों में खड़खड़ाने का शब्द सुनाई देगा। क्योंकि आकाश

*यह ग्रन्थ आधा छप चुका है दो तीन महीने तक आपके हाथों पहुचा देने की आशा रखता हू—लेखक

उस डब्बेके बाहर भीतर सब जगह है। अब डब्बेको खूब बन्द करके उसके भीतर की सारी वायु वायु निष्कासन यन्त्र से निकाल लें और फिर उसका मुह अच्छी प्रकार बन्द करके फिर उस डब्बे को खड़खड़ावें तो उसमे से कोई शब्द सुनाई नहीं देगा। हाथ के स्पर्श से तो डलियों के लुढ़कनेका हमें बोध होगा पर शब्द सुनाई नहीं देगा। यदि शब्द आकाश का गुण है तो वह अपने गुणों को क्यों छोड़ गया, इससे भिन्न क्यो होगया? डब्बे से निकाली तो गई है वायु, न कि आकाश। फिर शब्द क्यों नहीं होता ? वास्तव में शब्द आकाश का गुण नहीं प्रत्युत वायु में आघात का परिणाम है। और इसी बात को कहीं २ हमारे प्राचीन दार्शनिकों ने भी माना है। यथा —

"प्रकृतिः स्पर्श शब्दयो· श्रोतस्पर्शन मूलम्"

[चरक वात कलाकलीय अध्याय १२]

वायु के शब्द स्पर्श दो गुण हैं शब्द बोध का स्थल श्रवणे-न्द्रिय है और स्पर्श बोध का स्थल त्वगिन्द्रिय है। वायु में घनत्व है, आयतन है इसलिये किसी भी स्थल पर जब वायु में आघात किया जाय आघात से शब्द जनित होता है और आघात से वायु में कम्पन होता है उस कम्पन के साथ आघात जनित शब्द वायुमें चारों ओर बह जाता है और शब्द प्रति सेकेण्ड १=$\frac{1}{5}$ मील की चाल मे चारों ओर फैलता है। उस शब्द पूर्ण लहरोंका स्पर्श जब हमारे कानो मे होता है तो हमें शब्द का बोध होता है। इस परीक्षासे शब्द आकाशका गुण सिद्ध नहीं होता। रहा आकाश के सूक्ष्म, विशद, श्लक्ष्ण, लघु, मृदु आदि गुण। जब इसमें न तो घनत्व है न आयतन, न भार, न रूप तो फिर किस वस्तु में

विशदता, श्लक्ष्णता, लघुता और मृदुता हो जिसमें पदार्थत्व ही नहीं उसमें किसके आश्रित गुण रहते हैं ? इसकी खोज दार्शनिक व्यक्ति ही करेंगे । यह प्रश्न उन्हीं की कल्पना के लिए छोड़ा जाता है ।

वायु—इससे आगे रूप रहित स्पर्शवान वायु आता है । वायु ७७·११ भाग समीरन और २०·६५ भाग ऊष्मजनका मिश्रण है । वायु रूप रहित स्पर्शवान् है, स्पर्श इसका गुण है ऐसा माना गया है । पर यह लक्षण भी ठीक नहीं । किसी वस्तु का स्पर्श तो हम त्वचा से करते हैं वायु वेग को या वायवस्थ शीतलता, उष्णता त्वचा से स्पर्श होते ही वह उसे अनुभव करलेती है । इस प्रकार का स्पर्श ज्ञान वायु के कारण नहीं होता । वायु रहित स्थान पर हमारा हाथ बन्द करदें और उस स्थल पर कोई और ऊष्मजन, उद्जन, लवणजन आदि वायव्य बहावें तो हरएक का बोध उक्त बाह में होगा । वायवीय रूपधारी कोई भी तत्व वायव्य वेगसे बह रहा हो या वेगसे बहाया जाय उसका स्पर्श त्वचासे होते ही हमें उसके बहनेका ज्ञान हो सकता है फिर स्पर्शवान वायुको ही क्यों माना जाय ? रहा रूप रहितका प्रश्न यह भी इसी एक के लिये लागू नहीं । उद्जन, ऊष्मजन आदि कई वायव्य ऐसे हैं जिनका रूप दिखाई नहीं देता । हां कुछ वायव्य ऐसे हैं जो अधिक मात्रा में सजनित हो रहे हों तो उनका रूप दिखाई देता है पर वह भी फैलने पर ऐसे सूक्ष्म रूप को प्राप्त हो जाते हैं जिनको हम अपनी आंखों से नहीं देख सकते । यथा—जल वाष्प जलसे निकलते दिखाई देता है पर वह भी फैलकर वायु में विलीन हो जाता है । इस अवस्थामें जल वाष्प भी तो अमूर्त है ।

फिर वायु ही एक अमूर्त्त पदार्थ क्यो ? यदि यह कहा जाय कि जल प्रथम मूर्त्तमान होता है पश्चात् अमूर्त्त होजाता है जिसको फिर शीतल करके मूर्त्तमान बनाया जा सकता है ऐसा वायु को नहीं किया जा सकता यह बात नहीं। वायु को भी अब द्रव करके मूर्त्तमान बनाया जा चुका है और किसी भी बड़ी प्रयोग शाला में चले जाइये आपको वायु द्रव करके दिखाया जा सकता है। इसलिये न तो वायु अमूर्त्त माना जा सकता है, न स्पर्श इसका गुण ही मान सकते है । हां स्पर्श का कोई और अर्थ निकलता हो तो उसे भी दार्शनिक बतावें उसका भी भेद मालूम करेंगे। यह तो इसके मुख्य गुण की बात हुई। अब इसके और गौणगुण लघु, शीत, रुक्ष, खर, विषद सूक्ष्म आदि जो माने गये हैं यह गुण भी इसी एक में निश्चित हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्यों कि वायु से भी लघु उदजन है। दूसरे वायु में काफी भार या दबाव है इसको लघु नहीं कहा जा सकता। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि वायु का दबाव शरीर पर चारों ओर प्रति वर्ग इंच ७½ सेर पड़ता है इसमें पदार्थत्व है तभी भार है, दवाव है, फिर इसे लघु किसकी अपेक्षा माना गया, किसी भी शास्त्र ने नहीं बताया। शीतलता और उष्णता यह वायु का गुण नहीं प्रत्युत शीतोष्ण वाहक है। दूसरे शीतोष्ण पदार्थों के स्पर्श से वायु में शीतलता या उष्णता आती है। वायुमें पदार्थत्व है इसी लिए यह भी शीतोष्ण पदार्थोंके स्पर्श से शीतलता उष्णता को ग्रहण करता है।

जितने भी वायवीय पदार्थ हैं सबों में शीतोष्ण धारक शक्ति है, पर एक सी नहीं ? और वायु में रूक्षता व खरता भी उष्णता

के प्रभाव से आती है। जिस स्थान पर अधिक गर्मी होती है उस स्थान की वायु में जल के अणु घट जाते हैं इसी लिये उक्त उष्ण स्थान की वायु तब तक रूक्ष रहेगी जब तक वहा से ऊष्णता न दूर होगी, और जल के अणु न आवेंगे। जहा उष्णता या उत्ताप होगा वहा की वायु सदा ऊपर की ओर उठेगी, हलकी होगी, और शीतल स्थान की वायु उक्त खाली स्थान की पूर्ति करने के अर्थ उस ओर आवेगी। इस एकदेशीय शीतोष्णता के कारण वायु में खरत्व या तेजी (वेग) उत्पन्न होती रहती है जो वायु का गुण नहीं माना जासकता। यह गुण या धर्म प्रत्येक वायव्य में है। इसी प्रकार विशद व सूक्ष्मपन का गुण भी वायुमें नहीं, विशदका अर्थ है उज्ज्वल या पारदर्शक। वायु ही उज्ज्वल व पारदर्शक नहीं और न यही केवल एक सूक्ष्म पदार्थ हैं प्रत्युत इस से भी अधिक उज्ज्वल, पारदर्शक व सूक्ष्म पदार्थ हैं। यथा—उदजन। इसी लिये यह गौण गुण भी इसी एक में निश्चित न होने से इसी एकका नहीं माना जासकता।

अग्नि—अब आईये अग्नि तत्व की ओर, अग्नि का प्रधान गुण रूप या दर्शन, कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि दर्शन या देखने की शक्ति हमें अग्निके कारण मिलती है। इसीलिये रूप अग्नि का गुण माना गया रूप का अर्थ है किसी वस्तु के स्वरूप को अपनी चाक्षुष शक्ति से यथावत् आकार में देखना और उसका अनुभव पाना। यह कार्य अग्नि द्वारा सम्पन्न नहीं होता, वास्तव में रूप का मान हमें प्रकाश के प्रतिफलन से होता है अर्थात् वस्तुओं का अपने वास्तविक रूप में दिखाई देना प्रकाश के उस वस्तु पर पड़कर प्रतिफलित होने पर

हमारे चाक्षुष गोलक द्वारा होता है। जिस समय प्रकाश किसी एक वस्तु पर पड़कर प्रतिफलित न हो, वापस न लौटे, हम उसे देख नहीं सकते। हम जभी देख सकते हैं जब हमारे नेत्र गोलक उस ओर हों जहां उस वस्तु पर प्रकाश पड़ कर वह प्रकाश वहां से उलट कर हमारे नेत्र से टकराता हो। बिना इस तरह प्रकाश की परावर्तित अवस्था हुए कभी भी उक्त वस्तु का प्रतिबिम्ब हमारे नेत्र ताल पर नहीं पड़ सकता। इसलिये देखने की क्रिया प्रकाशाधीन है न कि अग्नि का गुण है। प्रकाश भी लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला, और बैंगनी सातवर्णों का होता है। यह सातों वर्ण के प्रकाश जब आपस में मिल जाते हैं तो उस से श्वेत वर्ण का प्रकाश बन जाता है। यह प्रकाश अग्नि नहीं, प्रत्युत अग्नि से भिन्न वस्तु है। हां यह अवश्य ठीक है कि जहां अग्नि हो या जहां पदार्थाश्रित उत्ताप हजारों डिग्री हो वहां प्रकाश संजनित होकर निकलता रहता है जैसे सूर्य से। सूर्य में उत्ताप की मात्रा छः हजार शतांश के लग भग है। इस उत्ताप में प्रकाश प्रादुर्भूत होता है और वह १८६००० मील प्रति सेकण्ड की चाल से चलकर हमारी पृथ्वी पर आ टकराता है जिस की रोशनी में हम सब कुछ देखते हैं। यह प्रकाश अग्नि नहीं, अग्नि उत्ताप की बढी हुई अवस्था है भिन्न २ प्रकाश अत्यधिक दीप्ति के कण समूह हैं जिनकी लम्बाई चौड़ाई सब भिन्न है। इस प्रकार रूप भी अग्नि का गुण सिद्ध नहीं होता। इस से भिन्न जब अग्नि में पदार्थत्व नहीं तो उस में सूक्ष्मता, लघुता, रूक्षता, आदि गुणों का होना असम्भव बात है।

जल—अब जल तत्व की ओर आइये। जल का मुख्य गुण स्वाद माना गया है। जिसका बोध स्थूल रसना है। हम पीछे बतला चुके हैं कि जल उदजन और ऊष्मजन दो वायव्यों के संयोग से बनने वाला एक यौगिक पदार्थ है अर्थात् जल के संयोग में उदजन के दो परमाणु और ऊष्मजन का एक परमाणु यह तीनों परमाणु परस्पर मिलते हैं तो जल का एक अणु बनता है यह शुद्ध जल कोई भी स्वाद नहीं रखता अर्थात् शुद्ध जल स्वाद हीन पदार्थ है। पर जिस समय इस जल में एक बूद गंधक के तेजाब की डाल दी जाय तो वह जल उस तेजाब की बूद को अपने में घोल लेता है। इस घुलित दशा में जल का स्वाद अम्ल होजाता है। इसी प्रकार निमक की डली जल में डालने से निमक भी जल में घुल जाता है, और वह जलीय घोल चखने पर नमकीन लगता है। इसी प्रकार यदि जल में क्षार घोलें तो क्षारीय और कटु वस्तु घोलें तो कटु, तिक्त वस्तु घोलें तो तिक्त, स्वाद हो जाता है। यह सब स्वाद जल के नहीं, प्रत्युत भिन्न २ वस्तु मिश्रणके हैं। इसमें कोई संशय नहीं कि जलमें यह गुण है कि अनेक प्रकार के पदार्थों को अपने में घुला लेता है और अनेक पदार्थ घुलित दशा में ही आकर अपना २ सही स्वाद देते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह गुण जल का है। यदि इसका अर्थ यही हो तो शुद्ध जल में भी अपना स्वाद होना चाहिये। इस से भिन्न स्वाद का सम्बन्ध तो जिह्वा के बोध तन्तुओं से है यदि जिह्वाग्र के बोध तन्तुओं को नष्ट कर दिया जाय या शून्य कर दिया जाय तो हमें न निमक के स्वाद का पता लग सकता है न अम्ल के। पर ना मालूम क्यों इसका सम्बन्ध जल से जोड़ा

गया है। क्या जल में अनेक वस्तुओं को अपने में घोल लेने का गुण है इसी अपराध के कारण मिथ्या गुणों का भी आरोप इसमें किया गया है? या और कुछ। स्वादसे भिन्न जलमे द्रवता स्निग्धता, शीतलता, मन्दता, मृदुता, पिच्छलता सरत्व आदि और भी छः सात गुणों का इसमें आरोप किया गया है। हम साधारणतया इस पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। जल में द्रवता—यह जलका साधारण गुण या धर्म है, पर जलमें स्निग्धता शीतलता, मन्दता, मृदुता, पिच्छलतादि, एक भी गुण नहीं। रहा सरत्व अर्थात् द्रव होने से बहना यह भी इसका साधारण धर्म माना जाता है। जल में स्निग्धता, मन्दता, मृदुता, पिच्छलता तो पदार्थों के घुलित दशा के कारण आती है। शीतलता या उष्णता, यह पदार्थस्थ न्यूनाधिक उत्ताप का परिणाम है। जिस तरह शीतोष्ण पदार्थों के स्पर्श से वायु शीतोष्ण हो जाता है उसी तरह जल भी शीतोष्ण पदार्थों के स्पर्श से शीतोष्ण हो जाता है। रहा यह कि प्राणियों के शरीर में जब उत्ताप बढ़ा हुआ होता है उस अवस्था में जल पान से शरीर की गर्मी शान्त हो जाती है। इसी लिये शीतलता इस का गुण या धर्म माना गया है—यह भी सही नहीं।

जल के शरीर पर इस प्रकार के प्रभाव को देखकर यह मानना सही नहीं कि जल में यह गुण है। प्रत्युत बात यह है कि जिस तरह एक लोहे के गोले को तपाकर उसे जल में डाल देते हैं तो जल उस लोहे की गर्मी को अपने में ग्रहण कर लेता है गर्मी लोहे के गोले से निकल कर सारे जल में फैल जाती है और थोड़ी देरमें वह गर्मी उक्त लोहेके गोले तथा जल में एकसी हो

जाती है, उस समय उस गोलेको हम शीतल कहते हैं। इस शीतलता का अर्थ यही है कि एक पदार्थ की स्थिर गर्मी जल के स्पर्श को पाकर चारों तरफ फैल गई और वह पदार्थ ठण्डा होगया। इसी तरह शरीर में जल का कार्य होता है, शरीर में किसी बाह्य या आन्तरिक कारण से जब गर्मी बढती है तो उस समय जल उस गर्मी को अपने में लेकर स्थानान्तरित कर देता है और वही जल उस गर्मी के बहुत से अंश को प्रस्वेद, मूत्र, वाष्प आदि द्वारा शरीर से बाहर कर देता है। इस गर्मी को स्थानान्तरित करने के कारण जल को शीतल मानना या शीतलता जल का धर्म बताना सही नहीं। हां जल में अनेको पदार्थों को घोलने का गुण है, उष्णता को धारण करने का गुण है, इसी लिये यह शरीर के अनेक अनुपयोगी पदार्थ जो गाढे होकर शरीर में उत्ताप वृद्धि का कारण बने होते हैं जल के पहुंचने पर वह उस में घुल जाते हैं और तज्जनित उत्ताप को भी जल अपने में धारण कर स्थानान्तरित कर देता है जिस के कारण हम शीतलता का अनुभव करते हैं। वास्तव में शीतलता जल का गुण नहीं।

पृथिवी—अब आइये गन्धवती पृथ्वी की ओर। अब इसे भी देखिये कि गन्ध गुण पृथिवी का है या किसी और पदार्थ का।

सब से पूर्व हम यह बतला देना उचित समझते हैं कि पृथिवी के कहने से अभिप्राय भूमि की मृत्तिका से है जिसकी मात्रा पृथिवी पर अधिक है। इससे भिन्न अनेक प्रकार के पाषाण, रत्न उपरत्न, मणि, धातु, व खनिज आदि से पृथिवी की मिट्टी का

अर्थ नहीं लिया जाता, बल्कि वह सब भिन्न माने जाते हैं। इन खनिजों, पाषाणों व रत्नो, उपरत्नो मे धातुओं, अधातुओं की भिन्न भिन्न मात्रा होती है, पर पृथिवी (मिट्टी) में भिन्न २ तत्वों की मात्रा १२ से १४ तक पाई जाती है। जिसको देखकर कहा जा सकता है कि पृथिवी की मिट्टी १२ तत्वोंके मेलसे बनी है।

पृथिवी तत्वों की मात्रा

तत्वो के नाम	मात्रा प्रतिशत	यौगिक रूप में प्रतिशत	
ऊष्मजन	५० %		
शैलिका	२५ ,,	कई प्रकार की सिकता	५६·७१
स्फटिकम्	१० ,,	स्फटिकम् यौगिक	१५·४१
चूनजम्	४·५ ,,	लोहज ,,	६ १५
मग्नम्	३·५ ,,	चूनज ,,	४ ६०
सैंधवम्	२·० ,,	भग्नज ,,	४·३६
पांशुजम्	१·६ ,,	सैंधव ,,	३ ४५
लोहम्	२·४ ,, (लोहम्, कज्जलिका, गन्धक, लवणजन)	पांशुज ,,	२·८०
कज्जलिका		जल	१·५२
गन्धक		टिटेनिकाम्ल	०·६०
लवणजन		स्फुरिकाम्ल	० २२

भिन्न २ स्थल पर दो चार भिन्न २ और भी तत्व १·० ,, में हैं

१००

भिन्न भिन्न ३६० स्थलोंकी मिट्टी लेकर तत्वोके मात्राकी जाच की गई, जिसका परिणाम उक्त निकला। इससे स्पष्ट है कि पृथिवी की रचना में उक्त तत्व ही काम आये हैं।

इस में कोई संशय नहीं कि गन्धक, लवणाजन आदि कुछ तत्व ऐसे हैं जो अपनी गन्ध भी रखते हैं, पर पृथिवी की मिट्टी में कोई गन्ध नहीं होती ।

कई वैद्य कहेंगे कि गन्ध तो स्पष्ट देखी जाती है फिर क्यों कहा जाता है कि पृथिवीमें गन्ध नहीं । वास्तव में यह गन्ध पृथिवी की नहीं--प्रत्युत पृथिवीमें अनेक प्रकार के ऐन्द्रिक पदार्थ (वनस्पति के अग पत्ते, फूल आदि, तथा प्राणिज अग व मल मूत्र) मिले हुए होते हैं । उसमें जब जलका अंश मिलता है तो उस मिश्रण में कई सजीव प्राणि (आदि जैव) आ घुसते हैं और उसे अपना आहार बनाते हैं । उस समय उक्त ऐन्द्रिक पदार्थों में परिवर्तन होता है उस मे अनेक गन्ध पूर्ण पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो पृथिवी के अणुओं में समाये रहते हैं । जिस समय पृथिवी की मिट्टी को उखाड़ा जाता है तो उस समय बाहर की वायु और उत्ताप के प्रभाव से उक्त गन्ध के अणु उड कर हमारे नाक के गन्ध ज्ञापक स्नायु तन्तुओं को आ लगते हैं तभी हमें गध का ज्ञान होता है । कोई भी गधशील पदार्थ हो उसमें से सदा ही गंध के अणु निकलते रहते हैं, जिसका नासा मार्ग के गध ज्ञापक तन्तुओं से जब स्पर्श होता है तो हमें उसके गध का ज्ञान होता है । गध कई मौलिक तत्वों म भी पाई जाती है, यौगिको में पाया जाना एक साधारणसी बात है । इस समय तक गंध रसायन पर इतना अधिक अनुसन्धान हुआ है कि असली प्राकृतिक गन्धों के तुल्य कृत्रिम रीति से ऐसे यौगिक तय्यार किये गए हैं जो असली से उत्तम गंध रखते है । यह गंध पृथिवी का गुण या धर्म नहीं, प्रत्युत कई मौलिकों का स्वाभाविक धर्म है । जिन से ही आगे यौगिकों को

प्राप्त होता है। इस गंधका पृथिवी से कोई सम्बन्ध नहीं. न हमारे घ्राण के बोध तन्तुओं का ही पृथिवी से कोई सम्बन्ध पाया जाता है, प्रत्युत त्वचा के, जिह्वा के, कान के, नेत्र के या शरीर के किसी भी स्थान के बोध तन्तु (स्नायु) जिन तत्वों के बने होते हैं उन्हीं तत्वों के नासा बोध तन्तु बने होते हैं फिर इनको या नासा की गध ग्रहण शक्ति को किस तरह पृथिवी मे उत्पन्न माना जाय, इसको किसी दार्शनिकने आजतक नहीं बताया। इस से भिन्न पृथिवी मे भारपन खरत्व, काठिन्य, मन्दत्व, स्थिरत्व, विशदता, गाढापन, स्थूलता आदि आठ और गुण भी माने हैं।

(१) भार का होना पदार्थत्व का एक गुण है यह पृथिवी के अणुओं में आपेक्षित कितना है आजतक किसी ने भी निकाल कर नहीं बताया।

(२) पृथिवी में खरत्व गुण का अर्थ किस रूप मे है तथा उसके गुण, लक्षण तज्जनित पदार्थों में क्या हैं ? कुछ भी पता नहीं चलता।

(३) काठिन्य या सघनता भी पदार्थत्व का बोधक है, पर पृथिवी के अणुओं में आपेक्षित घनत्व कितना है इसका भी किसी ने निराकरण नहीं किया।

(४) मन्द गुण के अर्थ का उपयोग पृथिवी मे किस रूपमें किया गया है गति रूपमें या किसी और अर्थ मे इसको भी दर्शन कार ही जानें ! उन्होंने कुछ भी स्पष्ट नहीं किया।

(५) इसी प्रकार पृथिवी में स्थिरत्व गुण का हाल है। स्थिर का अभिप्राय है गति रहित ठहरा हुआ, क्या पृथिवी गति रहित है ? किसी पर ठहरी हुई है ? इस समय तो बच्चा २ जानता है

कि पृथिवी अचला नहीं, न स्थिरत्व इस का गुण माना जासकता है, क्योंकि गमनशील को कोई भी स्थिरत्व गुण से युक्त नहीं कहेगा। पृथिवी की रेखात्मक गति १८½ मील प्रति सेकण्ड है। और इसके व्यास का एक सिरा २३ घंटे ५६ मिनट ४ सेकण्ड में एक चक्कर पूरा करता है। क्या इसका स्वरूप स्थूल और दृढ होने से तो कहीं स्थिरत्व गुण युक्त नहीं मान लिया गया? सम्भव है यही बात हो।

(६) पृथिवी में विशदता या उज्ज्वलताका गुण माना गया है, विशदता से दर्शनकार क्या अर्थ लेते थे वह तो वही जाने, पर इस समय विशद उसी पदार्थ को कहा जाता है जिसमें से होकर प्रकाश किरणें विना बाधा के आर पार होसकती हों, जैसे कांच, जल, हीरा अभ्रक आदि। पृथिवी के अणुओं में पारदर्शकता नहीं, न यह उज्ज्वल रूप धारी हैं, इसी लिये इनको न विशद कहा जासकता है न इसका यह गुण माना जासकता है।

(७) पृथिवी में गाढापन या घनत्व यह गुण इस में अवश्य है, पर यह सघनता अपेक्षित कितनी है किसी भी दर्शनकार ने नहीं बताई। क्योंकि इस में गाढापन या दृढता सूक्ष्म पदार्थ के लिये है, जल जैसे द्रव पदार्थोंके लिये इसका घनत्व बहुत कम है।

(८) पृथिवी में स्थूलता या दृश्यमानता है। इस में यह गुण इसके मौलिक तत्वों से आया है, क्योंकि प्रत्येक तत्व में स्थूलता या आयतन है। उन्हीं तत्वों के सम्मेलन से पृथिवी के अणुओं में भी आपेक्षित आयतन या स्थूलता आई है पर आपेक्षित मोटाई कितनी है यह किसी ने नाप कर नहीं बताई। इस तरह पृथिवी में वही गुण देखे जाते हैं जो उसके घटकों में विद्यमान है। ऊपर

जो कुछ इन पच भूतों के तथा इन के गुणों के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है यह कोई निजी विवेचन नहीं, प्रत्युत आधुनिक गवेषणा का परिणाम है, जिसको कोई संप्रदाय विशेषही नहीं मानता, प्रत्युत आधुनिक समग्र विद्वत्समुदाय मान रहा है।

पंच भूत कारण नहीं, यह विकार हैं

कई व्यक्ति एक और पच लेकर यह उत्तर दे सकते हैं कि सृष्टि के पंच भूत कारण नहीं यह तो पच तन्मात्राओं के विकार हैं। पच तन्मात्राएँ जगत् में कारण रूप हैं और उनके उक्त गुण होंगे। क्योंकि शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, और गन्ध तन्मात्रा के क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह गुण हैं,। जो पंच भूत रूप विकारों में आकर प्रकट होते हैं। यह सही नहीं। प्रथम तो पच तन्मात्राओं का स्वरूप बतलाया जाय तभी उन में गुणों की विद्यमानता मानी जासकती है, इस तरह नहीं। क्योंकि आत्रेय जी जब स्पष्ट कहते हैं कि—

गुणा शरीरे गुणिना निर्दिष्टाः चिन्हमेव च।

जिसके शरीर में गुण होते हैं उसीको गुणी कहते हैं, गुणियों का चिन्ह गुण है। इस लक्षण को प्रथम तन्मात्रा में घटाना चाहिये और पच तन्मात्राओं का शरीर या स्वरूप प्रथम सिद्ध करना चाहिये। जब तक इसका स्वरूप ही सिद्ध न हो, उसके गुण कैसे सिद्ध होसकते हैं।

पंच भूतों का शरीर से सम्बन्ध

शास्त्र स्पष्ट कहता है कि—

खादयः चेतना षष्टा धातवः पुरुषः स्मृतः ।

चरक

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी यह पाच भूत तथा छठी चेतना इन छहों के समुदाय का नाम पुरुष है । तब तो विवाद के लिये स्थान ही नही रह जाता । अब रही यह बात कि क्या पुरुष शरीर पंच भूतात्मक है ? इसका उत्तर भी हां में मिलता है । **यथा-**

पार्थिव अंग—*यत्र यद्विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्त्तिमद् गुरुखर काठिनमंगं नखास्थि दन्त मास चर्म वर्चः केशश्मश्रुः लोम कण्डरादि तत्पार्थिवं गन्धो घ्राणं च ।*

चरक

अर्थ—जो स्थूल, स्थिर, मूर्तिमान्, भारी, खर, कठिन अग है, वह पार्थिव तत्व से बनते हैं यथा—नख हड्डा, दात,, मास, चर्म, मल, केश, दाढी, लोम, कण्डरा आदि ।

जलीय अंग—*यद् द्रव सरमन्द स्निग्ध गुरु पिच्छल रस रुधिर वसा कफ पित्त मूत्र स्वेदादि तदाप्य रसौ रसनञ्च ।*

अर्थ-जो द्रव, पतले, मन्द, चिकने, भारी, ल्हेसदार अग हैं वह जल तत्व से बनते हैं जैसे रस, रुधिर, वसा, कफ, पित्त, मूत्र, और स्वेदादि ।

आग्नेय अंग—*यत् पित्तमूष्मायो याचभाः शरीरे तत्सर्वमाग्नेयं रूपं दर्शञ्च ।*

अर्थ—जो पित, ऊष्मा और प्रकाश या तेज शरीरमें है यह सब अग्नि तत्वसे बनते हैं। रूप और दर्शन भी अग्निसे उत्पन्न होते हैं।

वायवीय अंग—*यदुच्छ्वास प्रश्वासोन्मेषनिमेषा कुञ्चन प्रसारणं गमन प्रेरण धारणादि तद्वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनञ्च ।*

अर्थ—जो शरीर में श्वांस प्रश्वास की गति आख खोलना, मींचना, शरीरका फैलाना, सिकोडना, चलना, फिरना, प्रेरणा करना, धारण करना आदि यह सब वायवीय अग हैं तथा स्पर्श स्पर्शन भी वायवीय हैं।

अन्तरिक्ष अंग—*यद्विविक्तं यदुच्यते महान्ति चाणूनि श्रोतांसि तदन्तारिक्षं, शब्दः श्रोत्रञ्च ।*

अर्थ—जो शरीरमें अवकाश भाग तथा छोटे बडे छिद्र हैं यह सब आकाशीय अग हैं तथा शब्द और कान भी

जिन अंगों का तात्विक विभेद बताया गया है इनसे भिन्न भी शरीर में और भी अनेक अग हैं। यथा—धमनी, शिरा, स्नायु, मस्तिष्क, फुफ्फुस, वृक्, प्लीहा, यकृत्, क्लोम, आवरक, कला बन्धक-तन्तु आदि यह सब किन २ तत्वों से बने हैं? इसका पता बहुत कम मिलता है। कुछ व्यक्तियों का मत है कि शिरा, धमनी आदि स्थूल कठिन अंग पार्थिव हैं। फुफ्फुस, मस्तिष्क, वृक्, प्लीहा, यकृत्, आवरक व कलादि जलीय हैं। खैर कुछ

भी हो शरीर का एक २ कण पंच तत्व से बना, पंच तत्वमय है; ऐसा शास्त्र ने माना है। इन्हीं पाच तत्वों के विकार स्वरूप या प्रतिनिधि रूप शरीर में—

'दोष, धातु, और मल, यह तीनों मूल पदार्थ हैं"

इस शास्त्र कथन में ढूंढने पर सच्चाई नहीं मिलती।

तो क्या पच तत्व शरीर के मूल पदार्थ नहीं हैं?

आधुनिक प्रयोग विज्ञान तो यही उत्तर देता है। इस समय शल्य चिकित्सा इतनी समुन्नत और इतनी विशद है कि सुश्रुत जी के समय बन मृत शरीर को सात २ दिन जल में सड़ा कर बांसकी शलाकाओंसे अवयव नहीं ढूंढे जाते, न शरीरके आन्तरिक अंगों के सम्बन्ध में यह कह कर सन्तोष दिलाया जासकता है कि—

एतावद् दृश्यम् शक्यमपि निर्दिष्टुमनिर्देश्य मतः परम्, परमतर्क्य मेव।

कुछ अंग तो प्रत्यक्ष देखने में आते हैं जैसे—हाथ, पैर, नाक, मुंह, पर अनेक अंग—जो शरीर के अन्तर्गत हैं जैसे—फुफ्फुस, मस्तिष्क, श्रोतादि—तर्क (कल्पना) से जाने जाते हैं।

इस समय का यन्त्र विधान इतना अच्छा है इस समय की प्रयोग शालाएं इतनी समुन्नत हैं कि जिस आन्तरिक अंग को दिखाना अभीष्ट हो तो बिना मूर्छित किये ही शरीर के कुछ अंग को मूर्छित करके त्वचा मांस को चीरते हुए उन अंगों को रूप व कार्य को स्पष्ट दिखा देते हैं। इस से भिन्न इस समय भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र ने इतनी उन्नति की है कि जगत् की सूक्ष्म से सूक्ष्म सत्ता ईथर (Ether) तक को

तोल नाप डाला है, प्रकृति विचारी की तो बात ही क्या है। रहे शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव-जीव कोष (Cells) इन्हें तो हस्तामलकवत् सूक्ष्म दर्शक से सामने लाकर रख देते हैं। जिसमे शंका के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। यही नहीं इन सूक्ष्मावयवों का रूप इनकी तात्विक रचना, इनका कार्य व्यवहार, सब बातें सही २ मालूम करली गई हैं और यह विषय कोई एलोपैथी चिकित्सा या किसी विशेष सम्प्रदाय का मत नहीं, प्रत्युत प्रयोग सिद्ध सार्वभौमिक माना सिद्धान्त है। जिसको गणनाथ सेन जैसे आयुर्वेद के ज्ञाता बिना किसी ननुनच के 'प्रत्यक्ष शरीरम्' लिख कर स्वीकार कर चुके हैं।

शरीर और आत्मा का सम्बन्ध

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत के प्रत्येक सम्प्रदाय व प्रत्येक दर्शनकारने आत्मा या जीव को नित्य, अविनाशी, अक्षय, निर्विकार, विभु, व्यापक सनातन माना हैं सृष्टि मे चेतना इसी आत्म शक्ति का प्रकट रूप है। बिना आत्मा के प्रत्येक द्रव्य निर्जीव कहाता है। सजीवता व निर्जीवता का भेद इसी आत्म शक्ति पर निर्भर है। इसी लिये तो शरीर की रचना मे 'खादयः चेतना षष्ठा धातव. पुरुष स्मृत' ऐसा कहा है। पंच तत्व जड या चेतना रहित द्रव्य हैं जब इन में या इनके किसी विकारी द्रव्य में आत्मा का प्रवेश होता है तो वह द्रव्य सजीव सञ्ज्ञक होजाता है।

प्राणियों के शुक्र शोणित जो गर्भाधान मे कारण पदार्थ हैं इन्हें भी शास्त्र निर्जीव मानता है इसी लिये—

शुक्र शोणित जीव संयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भ संज्ञा ।

पिता का शुक्र, माता का शोणित, तीसरा जीव, इन तीनों के निश्चित रूप से गर्भाशय में संयोग का नाम गर्भ ऐसा माना है और—

सगर्भाशय मनुप्रविश्य शुक्र शोणिताभ्यां संयोग-मेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मनात्मानमात्म संज्ञा ।

वह जीवात्मा गर्भाशय मे प्रविष्ट होकर शुक्र शोणित से संयुक्त हो अपने को गर्भ रूपमें उत्पन्न करता है ।

चरक शरीर अ० ३

इस प्रकार जीवन सत्ता को भिन्न मानकर उसका संयोग निर्जीव द्रव्यों (तत्वों) से करके तब सजीव संसारकी रचना मानी हैं । दार्शनिक मतमें बिना इस संयोगके सजीव सृष्टि का होना असम्भव बात रही है ।

पर इस समय कोई भी विज्ञान-विद्, जीव या आत्मा का बाहर से प्रवेश नहीं मानता न उसको किसी जीवात्मा के बाहर से प्रवेश की आवश्यकता ही दिखाई देती है । आधुनिक विज्ञान-विद् तो प्रयोगों से देखते हैं कि जीव या आत्माका शरीरसे नित्य या समवाय सम्बन्ध है । जिसको अलहदा न किया जासकता है न होते देखा जाता है । जीवन शक्ति या जीव कुछ द्रव्यों के (तत्वोंके) विशेष संयोग का परिणाम माना जाता है और इसका आरम्भ में प्रादुर्भाव इतने सूक्ष्म कणों (अणुओं) के रूप में हुआ, जिसको मनुष्य इन चक्षुओं से नहीं देख सकता । यह अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपधारी जीव आरम्भ में बने होंगे, और उसी समय होंगे, सो बात नहीं ।

इस समय जितने भी बड़े से बड़े शरीर धारी प्राणी दिखाई देते हैं सब के सब इन्हीं अदृश्य जीवोंके अणुओंमे मिलने के कारण बने हैं। मनुष्य शरीर भी इन्ही अनन्त जीवन युक्त अणुओ का समूह है। क्या अस्थि, क्या मास, क्या स्नायु, क्या धमनी, क्या रक्त, क्या शुक्र, शोणित सब सजीव सत्तात्मक हैं। इसी लिये गर्भकाल में जब शुक्र शोणित का सयोग होता है तो उस शुक्र शोणित के स्वस्थ सजीव अणुओं का परस्पर सयोग होता है जिनके मेल मे गर्भ स्थिति होती है, न कि—

मातृत: पितृता आत्मत: सात्म्यता रसत सत्वत इत्येभ्यो भावेभ्य: समुदितेभ्यो गर्भ सम्भवति।

माता का शोणित पिता का शुक्र, आत्मा, सात्म्यता, या इन का सात्म्यभाव रस और सत्व इन सब के एकत्रित भावो से गर्भ की रचना होती है। आज कल गर्भ स्थिति में न तो कहीं से आत्मा के आने की आवश्यकता देखते हैं न आत्मा के साथ शुक्र शोणित के मेल की। न किसी ऐसे रस सत्व की जो उनकी जीवन शक्ति मे भिन्न कारण रूप हो।

अणु रूप जीव और उसके घटक

जब इस बात का सही २ पता लगा कि मनुष्य मक्खी, मच्छर, पशु, पक्षी, पौधे सब के शरीर अत्यन्त सूक्ष्म सजीव अवयवों से बने हैं और इन अवयवों में भिन्न २ जीवन शक्ति है, यदि एक २ अवयव को किसी विधि से भिन्न करदे तथा उन के पास खाद्य सामग्री पहुचादे तो उन सबों का जीवन व्यापार बन्द नहीं होता, बराबर चलता रहता है, तो उन्होंने यह जानने

की चेष्टा की कि इन में यह जीवन शक्ति क्या है तथा इन जीवों के मुख्य घटक कौन २ से तत्व हैं ?

अनेकों प्रकार से परीक्षा लेने पर यह निश्चय किया जासका है कि सृष्टि में दो चीजें देखी जाती हैं, एक पदार्थ, दूसरी शक्ति। अथवा यों कहो कि एक सामर्थ्य, दूसरी शक्ति। शक्ति सदाही पदार्थ या सामर्थ्य के आश्रित रहती है। प्रकाश, उत्ताप, आकर्षण, विद्युत आदि यह सब शक्ति के रूप हैं और पदार्थ के आश्रित सदा रहते हैं। पदार्थ या तत्त्व सृष्टि में ९२ हैं। जिस तरह लोहे के साथ ऊष्मजन के विशेष रूप में संगठित होने पर, उसमें आकर्षण शक्ति आती है, जिस तरह ताम्र और यशद के टुकड़ों को विशेष विधिके साथ सुसंगठित रखनेसे इन दोनों के सम्मेलन स्थान पर विद्युत शक्ति उत्पन्न होजाती है, तथा विशेष विधि द्वारा इसकी कुण्डली पूरी करने पर इसमें से प्रकाश व उत्ताप शक्ति स्वयम् जनित होती है, इसी प्रकार कुछ तत्वों के विशेष रसायनिक सगठन में यह जीव या जीवन नाम की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। जिस तरह एक पौजिटिव धातु (सामर्थ्य) एक नेगटिव धातु (शक्ति) के संयोग से विद्युत बल, प्रकाश, उत्ताप का प्रादुर्भाव होता है, ठीक इसी प्रकार कुछ सामर्थ्यवान् और कुछ शक्तिमान् तत्वों के विशेष रसायनिक सगठन से जीव या जीवन शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। जिसकी स्थिति एक निश्चित उत्ताप मात्राके ऊपर निर्भर है, आज भी यह जीवन शक्ति एक निश्चित उत्ताप में ही ठीक तौर से अपने घटकों में बनी रहकर जीवन व्यापार चलाती रहती है, यदि किसी वाह्य या आन्तरिक कारण से उत्ताप में वृद्धि होजाय या निश्चित मात्रा से घट जाय

तो जीवन व्यापार बन्द होजाता है। और वह जीवन शक्ति अपने घटकों में ही विलीन होजाती है।

वास्तव में जीवन भी एक भौतिक घटना है, इसलिये यह घटाई बढाई या, विशेष चेतना युक्त या चेतना रहित भी की जासकती है। यदि ऐसा न होता तो कभी भी कोई इस में अन्तर नहीं डाल सकता था। पर नहीं, जब हमारे यहां ही ऋषि शतवर्षायु से सहस्रवर्षायु तक बना चुके हैं, और इस समय भी इस में बहुत कुछ सफलता मिल चुकी है तो इस सिद्धान्त में संशय ही नहीं रह जाता।

जीवन के घटक—वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार के सजीव शरीरों का विश्लेषण किया है जिनमें से उन्हें निम्न लिखित मुख्य व गौण तत्वों के यौगिक मिले हैं।

	प्रतिशत		
कद्जलिका	५०%	से	५५
ऊष्मजन	२०·६	,,	२३·५
समारैन	१५	,,	१८
उद्जन	६·६	,,	७·३
गन्धक	३·०	,,	२·०
स्फुर	०·७	,,	१·२

यह छः तत्व तो प्राय: समस्त सृष्टि के जीवों में न्यूनाधिक अवश्य पाये जाते हैं इसीलिये इनको मुख्य घटक माना है पर इन से भिन्न रक्तम्, सैंधजम्, पाशुजम्, चूनजम्, मग्नम्, लोहम्, रौलिका, नैलिका, लवणजन, नोनजन, आदि तत्व भिन्न २ अम्ल व लवण के रूपमें विद्यमान देखे जाते हैं। पर सब में एक

से नहीं, किसी में कोई तो किसीमें कोई। किसी में न्यून किसी में अधिक। इसी लिये इनको जीवन के गौण घटक स्वीकार किया गया है।

इसमें कोई सशय नहीं कि जिन तत्वों के मेल मे हमारी पृथिवी बनती है कज्जल को छोड कर दोनों के घटकों मे बहुत कुछ समानता पाई जाती है। पृथिवी के घटकों में मुख्य स्थान शैलिका का है और सजीव प्राणियों के घटक मे मुख्य स्थान कज्जलिका या काजल ले लेता है। बस इसी एक अन्तर के कारण वह निर्जीव रह गई, वह सजीव होगया। पर इस समानता मे कोई यह अर्थ न लगाले कि पृथिवी तत्व से जीवन का प्रादुर्भाव हुआ, या शरीर की रचना हुई। इस मानवी शरीर रचना में भी उक्त तत्व ही देखे जाते हैं, इनसे भिन्न कोई और नहीं।

सजीव और निर्जीवों में अन्तर

जितनी भी स्थावर, जगम सृष्टि है, वृक्षों से लेकर मनुष्य तक मे निम्न लिखित बातें पाई जाती हैं।

(१) कोई भी छोटे से छोटा सजीव प्राणी हो सब मे यह शक्ति है कि बाहर से अनेक तरह की वस्तुएं लेकर (खाकर) अपने भीतर कर लेता है और उस खाये हुए पदार्थ के कुछ भाग को अपने शरीर जैसे रूपमे बदल लेता है निर्जीव पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते।

(२) कोई भी सजीव जब खाद्य वस्तुओं को सात्म्य रूप देता है तो भीतर से बढने लगता है। उसके अवयवों की वृद्धि होने लगती है। निर्जीवों में यह वृद्धि भीतर से नहीं होती।

(३) इच्छानुसार सब सजीवो के भिन्न २ अंग गतिशील हैं कई अपने स्थान पर ही गति करते रहते हैं कई स्थानान्तरित भी होते रहते हैं। निर्जीव गति नहीं कर सकते।

(४) सजीव जब खा पीकर बढते हैं तो अपने जैसा प्राणी उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अपने शरीर का विभाग करके अपने सदृश दूसरा शरीरधारी बना लेते हैं या अपने शरीर से बीज रूप सत्ता द्वारा अपने जैसी सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं, निर्जीव पदार्थ ऐसा नहीं कर सकते। इन्हीं बातों को देखकर हम एक पदार्थ को सजीव और दूसरे को निर्जीव कहते हैं। उक्त चिन्ह सजीवता निर्जीवता के विभाजक हैं।

सजीव अणुओं की सूक्ष्म बनावट

ससार में वृक्षों से लेकर स्थावर जगम वर्ग की जितनी भी सजीव सृष्टि दिखाई देती है सब की सूक्ष्म शरीर रचना—आवयविक रचना—एक सी ही है और सब में सजीव शक्ति भी एक सी ही देखी जाती है, न कि मनुष्यों की और, वृक्षों की और। न वृक्षोंकी और मनुष्योंकी इस जीवन शक्तिमें सात्विक, राजस, तामस भेद वाला अन्तर है। जिस नियम से वृक्षों में सम्वर्द्धन,संजनन, होता है, उसी नियम से वैसा पशु पक्षियों और प्राणियों में होता है। जिस तरह जितने मनुष्य शरीरके सजीव अवयव (जीव-कोष) इच्छा ज्ञान और क्रिया सम्पन्न है उसी तरह उतने ही पशुओं, वृक्षों के भी हैं, इसमें जरा भी अन्तर नहीं। जिसको हम सूक्ष्म या कारण शरीर कहते हैं इसका अर्थ कहीं यह न समझ लेना चाहिये कि इस शरीर से भिन्न कोई और सूक्ष्म शरीर होगा, जिसका जिकर कर रहे है। वास्तव में हम सब का यह

शरीर जिसको एक आत्मा वाला मानते हैं यह एक आत्मा वाला नहीं प्रत्युत अनेक आत्माओं का समूह है। जिस तरह छोटे छोटे अग उपांगों के मेल से शरीर बनता है इसी प्रकार अनेक छोटे २ अवयवों से अग बनता है। अवयव का अभिप्राय उस छोटे विभाग से है जो अपनी जीवन सत्ता में स्वतन्त्र है, जिसका नाम जीव-कोष (Cell) है। यह अवयव स्वतः इच्छा, ज्ञान, क्रिया सम्पन्न होते हैं। इनकी संख्या हमारे शरीर में इतनी अधिक है जिसको हम गिन नहीं सकते। एक बाल या लोम में ही इनकी सख्या सैकडों से ऊपर होती है फिर आप ही अन्दाजा लगाइये कि इतने बडे शरीर में इनकी सख्या कितनी होगी। यह इतने सूक्ष्म हैं कि सैकडों की संख्या में एकत्रे करदो तो भी यह सूई की नोक पर बैठ सकते हैं। इन्हीं को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इन सूक्ष्म शरीर वाले अवयवोंमें पदार्थों को खाकर बढना, अपने जैसी सन्तान उत्पन्न करना, गति आदि सारी की सारी सजीवों वाली बातें मिलती हैं। इसी लिये इनको सजीव कोष भी कहते हैं। सजीव कोष कहने से अभिप्राय यह है कि वह अवयव एक मर्य्यादा झिल्ली सहित द्रव रूप एक कण होता है। इनके न कोई भिन्न हाथ पैर होता है, न खानेके लिये निश्चित मुख मार्ग; प्रत्युत यह अपनी मर्य्यादा कला को इच्छा-नुसार हाथ, पैर, मुह के कार्य व्यवहार योग्य बनाकर सारे जीवन का व्यवहार उसी से पूरा कर लेते है। हमारे कटे या क्षत पूर्ण अंगों की पूर्ति इन्हीं के सजनन से होती है, शरीर में जहां क्षत होजाता है उसको यह यथा स्थान अपने जैसे अवयवों की रचना करते हुए भर देते हैं। कई व्यक्ति पूछ सकते हैं कि इन सूक्ष्म

शरीर धारियों के भीतर क्या होता है ? और वह कैसे रूप का होता है ? सम्भव है इसी सूक्ष्म अवयव के भीतर पच भूतात्मक सत्ता हो, यह बात नहीं । इन सूक्ष्म अवयवों की आन्तरिक रचना का अच्छी तरह अनुसन्धान किया जाचुका है । यह सजीवों का शारीरिक पदार्थ एक तरह का गला हुआ सरेसवत् पदार्थ है, जो मर्यादा कला के भीतर भरा रहता है । इस सारे के सारे में ही जीवन शक्ति देखी जाती है इसी लिये इसको प्रजीवादि कहते हैं । । इसी में उपरोक्त कज्जल, ऊष्मजन, समीरन आदि छः मुख्य तथा आठ दसके लगभग गौण रूपमें मिले हुए (यौगिक रूप)तत्व पाये जाते हैं। यही प्रजीवादि के यौगिक यदि मर्यादा कला से वेष्टित न हों तोइस मे जीवनके चिन्ह नहीं देखे जाते। ऐसी अवस्था में इस प्रजीवादिके मिश्रित रूपका नाम अम्लजिद होता है । जिसके मुख्य घटक निम्न हैं ।

अम्लजिद् PROTEID के घटक

प्रतिशत

कज्जल	५०	से	५५	तक
ऊष्मजन	२०	,,	२३·५	,,
समीरन	१५	,,	१८	,,
उदजन	६·९	,,	७·३	,,
गन्धक	२	,,	३	,,
स्फुर	०·५	,,	१	,,

इनसे भिन्न चूनज, पांशुज, सैंधज, रक्तजलवण और कज्जल, गन्धक, स्फुर शैलिका आदि के अम्ल इसमे विद्यमान

होते हैं। यद्यपि यह असजिद् अनेक प्रकार का पाया जाता है, इस के साथ उक्त घटकोंकी मात्रामें भी अन्तर होता है, तथापि कोई भी असजिद हो-सवों में उक्त घटक अवश्य होते हैं। यह असजिद प्रजीवादि का भोजन या आत्मीय पदार्थ होता है। जिसको वह या तो उक्त घटकों से स्वयं संगठित कर लेता है या बना बनाया दूसरे प्राणियोंके शरीरसे ग्रासकर लेता है और जब इसको मर्यादा कला के भीतर कर लेता है तो वही असजिद सात्म्य रूप होकर अवयव या जीवकोष का अंग बन जाता है। यही अवयवों या जीवकोषोंकी मर्यादा कलाके मध्य मयोजक पदार्थ रचकर जब परस्पर अपने को मिला लेते या ईंटों जैसा अपने को एक दूसरे से जोड़ने लगते हैं, तो इन जुड़ हुए अनेक अवयव समूह का नाम अंग होता है। जैसे उपचर्म, चर्म, स्नायु, धमनी, मांस, अस्थि आदि। इनसे भिन्न यह अवयव शरीर में ऐसे भी हैं जो एकाकी रूप में भी रहते हैं दूसरे से नहीं जुड़ते। यथा—रक्त के लाल कण, श्वेत अवयव, शुक्रके अवयव, शोणितके अवयव, किण्वजैव या पाचक रसोंके अवयव। यह सब स्वतन्त्र ही शरीर मे रहकर अपना जीवन क्रम चलाते हैं अर्थात् खाने पीते बढते और सन्तति उत्पन्न करते हैं तथा इससे भिन्न समग्र शरीर के जीवन कार्य को भी सम्पादन करते हैं। जैसे शुक्र शोणित से मिलकर नये मानव शरीर की रचना आदि। इन अवयवों में न तो कहीं वात दोष का रूप दिखाई देता है, न पित्त का, न श्लेष्म दोष का।

त्रियेच्छा में जिस समय शरीर से शुक्र शोणितावयव स्थानच्युत होकर गर्भाशय में एकत्र होजाते हैं तो यह दोनों ही सजीव कोष जो माता पिता के सारे संस्कारों से पूर्ण होते हैं

आपसमें मिलकर एकरूप प्राप्त होने लगते हैं और जब उक्त दोनों की मर्यादा कला फटकर उनका प्रजीवनादि परस्पर मिलकर एकी भाव प्राप्त कर लेता है और मर्यादा कला पुनः उन दोनों के मिले हुए अवयव रूप को प्राप्त होजाती है अर्थात् वह सात्म्य रूप को प्राप्त होजाते हैं तो उसका नाम गर्भ होता है, यह गर्भ रूप अवयव गर्भाशय के किसी भाग के अवयव की मर्यादा कला को पकड़ कर अवस्थित होजाता है, उस समय गर्भाणु के लिये माता के असृजिदीय पोषक द्रव्य (अहाररस) उसतक पहुचकर उसकी पुष्टी व वृद्धि में सहायता करते हैं। इसी से वह अपने को परिवर्द्धित करता हुआ एक से दो और दो से चार,चार से आठ रूपों में विभक्त होता बढता चला जाता है, जिसका नाम गर्भ वृद्धि है।

यद्यपि शास्त्र कहता है कि-'*शुक्र शोणित जीव संयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भ संज्ञा*'शुक्र शोणित और जीव के संयोग का नाम गर्भ है। यहा पर शुक्र शोणितसे जीव को भिन्न मानकर उसका प्रवेश कराना प्राकृतिक नियम के बिल्कुल विरुद्ध बात है। दूसरे प्रयोगवाद से इस आत्म रूप सत्ता का पता नहीं लगता। जब शुक्र शोणित स्वतः सजीव हैं तो फिर किसी जीव या आत्मा के मानने या लाने की आवश्यकता क्या ? क्योंकि जब शुक्र शोणित की सजीविता गर्भ स्थिति के लिये प्रत्यक्ष कारण दिखाई देरही है और इसे निश्चित रूप से समझा जासका है, तो ऐसी अवस्था में एक और अज्ञात कारण को–जिसकी सत्ता का कोई प्रायोगिक पता ही नही मिलता–मानना या कल्पना करना कौन सी बुद्धिमत्ता है। इसी लिये अब गर्भको गर्भस्तु खल्वन्तरिक्ष

वाय्वाग्नितोयभूमि विकारंचेतनाधिष्ठान भूत नहीं माना जासक्ता ।

दोषों का शरीर से सम्बन्ध

अब रहे दोष इसका सम्बन्ध शरीरसे कितना है? शल्य शास्त्र इनके सम्बन्ध में क्या कहता है? तथा प्रयोगवाद क्या कहता है? इसको भी हम क्रम मे आपके सामने रखते हैं।

दोषों का स्वरूप

दोषों के स्वरूप के सम्बन्ध में आत्रेय जी कहते हैं कि-

वायु--रौक्ष्यं लाघवं वैशद्यं शैत्यङ्गतिरमूर्त्तत्वञ्चेति वायोरात्म रूपाणि ॥

अर्थ---वायु, रूक्ष, लघु, विशद, शीतल अमूर्त्त रूप वाला है।

पित्त---औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवमातिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्चविस्रो रसौच कटुकाम्लौ पित्त-स्यात्मरूपाणि।

अर्थ-पित्त, ऊष्ण, तीक्ष्ण, लघु, कुछ चिकना, श्वेतता, व रक्तवर्ण के विना और वर्ण वाला अर्थात् हरित पीत वर्ण वाला, मास गन्धी कटु और अम्ल स्वाद वाला है।

श्लेष्म-स्नेह शैत्य शौक्ल्य गौरवमाधुर्य मान्द्यानि श्लेष्मण आत्म रूपाणि।

अर्थ-श्लेष्म चिकना, शीतल, सफेद भारी, स्वाद में मीठा मन्द गति वाला होता है।

ऊपर जो दोषों का स्वरूप वताया गया है इससे इनके सूक्ष्म और स्थूल रूप का साफ २ बोध होजाता है।

इस से भिन्न एक २ दोष के शरीर में स्थान तथा स्थान भेद से दोषों के प्रकट जो २ कार्य बताये हैं उससे दोषों का स्वरूप तो बिलकुल ही स्पष्ट होजाता है। यथा—

वात के स्थान—*वस्तिः पुरीषाधानं कटि सक्थिनी पादावस्थीनि वातस्थानानि अत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानं।*

अर्थ—वस्ति, मलाशय सहित पक्वाशय, कटि, जांघ, पाद अस्थि यह वात के स्थान हैं इन में भी पक्वाशय वात का प्रधान स्थान हैं।

पित्त के स्थान—*स्वेदो रसो लसीका रुधिर मामाशयञ्चपित्तस्थानान्यत्रापि आमाशयो विशेषेण पित्त स्थानं।*

अर्थ—स्वेद, रस, लसीका, रुधिर और आमाशय यह पित्त के स्थान हैं, इन मे भी आमाशय पित्त का प्रधान स्थान है।

कफ के स्थान—*उरः शिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि अत्रापि उरो विशेषेण श्लेष्मणः स्थानं।*

अर्थ—हृदय, शिर, गर्दन, जोड़, आमाशय और मेद यह कफ के स्थान हैं इन में भी हृदय कफ का प्रधान स्थान है।

भिन्न २ दोषों के स्थान भेद से कार्य

यह एक २ दोष शरीरके भिन्न २ स्थानोंमे क्या २ कार्य करते हैं और उनके नाम क्या हैं ? इसको भी इसीके साथ बतलाना जरूरी है, क्योंकि इससे दोषों का स्वरूप और भी स्पष्ट होजाता है।

वातके प्रकार और कार्य–

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि मण्डले।

कण्ठे प्रोक्त उदानः स्यात् व्यानः सर्व शरीरगः॥

अर्थ–शरीर में रहने वाला वात प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नाम से पांच प्रकार है। इन पांचों प्रकार के वायु के कार्य भी भिन्न २ हैं।

प्राण वायु के कार्य–

वायुर्यो वक्त्र संचारी सप्राणा नामदेह धृक।

सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणश्चाप्य वलम्बते॥

वायु का सचार (आना जाना) कण्ठ में होता है और इसके द्वारा अन्न का ग्रहण होता है। दूसरे यह प्राणों का अवलम्ब है। इस लिये इस का नाम प्राण है। अर्थात्—

(१) प्राण वायु का निवास सिर, छाती, कान के रन्ध्र, जिह्वा, नेत्र, नासामार्ग हैं। और इस के द्वारा थूकना, छींकना, डकार लेना, श्वास लेना, भोजन ग्रहण करना आदि शरीर की क्रियाओं का सम्पादन होता है।

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्यूरु कण्ठ एव च।

वाक् प्रवृत्ति प्रयत्नोर्ज्जो वल वर्णादि कर्म च॥

(२) उदान वायु का निवास नाभि, हृदय, कण्ठ है। इसका कार्य प्राणियों के अङ्गों का सचालन है। यह स्वर यंत्र या वाणी को बोलने की शक्ति देता है और इस से ही शरीर में बल वर्ण, आभा, प्रभा उत्पन्न होती है।

आमपक्वाशयचरो समानो वन्हि संगतः।

सोऽन्नं पचति तज्जाश्च विशेषन् विविनक्तिहि।

(३) समान वायु का निवास स्वेदवाही, अंबुवाही तथा दोषवाही स्रोत हैं इसका-उदरस्थ ग्रहणी कला में विद्यमान तिल प्रमाण अग्नि की सहायता से भोजन पचाने का कार्य है, और पचे हुए अन्नसार व मल को पृथक करना है।

कृतस्नेह चरो व्यानः रस सम्वहनोद्यतः।

स्वेदासृक् श्रवणो वापि पन्चधा चेष्ट यत्यपि।

(४) व्यान वायुका निवास सारे शरीरमें है और यह बड़ा ही गति शील है। इसकी उपस्थिति के कारण ही प्राणियो में गति-चलना, फिरना, हाथ, पैर, हिलाना, नेत्रोन्मलिन आदि-कर्म होते हैं। रक्त की गति प्रस्वेदादि का निकलना सब इसकी प्रेरणा से होता है।

वृषणौ वस्ति मेढ्रञ्च नाभ्यूरु वङ्क्षणौ गुदं।

अपान स्थान यन्त्रस्थः शुक्रमूत्र शकृन्तिसः॥

(५) अपान वायु का निवास अण्डकोष, बस्ति, मेढ्र वंक्षणो, नाभि, उरु, गुदा और अन्त्र में है। वीर्य का च्युत करना, रोकना, मल मूत्राभिसरण, स्त्रियों में आर्तवा रम्भ, गर्भसे बालक जनना आदि अपान वायु के कार्य हैं।

इस वर्णन में प्राण का स्थान हृदय तथा व्यानका स्थान भी हृदय माना है। इस से भिन्न अपान वायुका स्थान भी नाभि तथा उरु बताया है और उदानका भी। एक २ स्थान में दो २ प्रकार की वायु क्या एक म्यान में दो तलवार की कहावत को नहीं चरितार्थ करती? क्या यहा एक वायुसे कार्य नहीं चलता था? खैर इन बातों पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। इन पाच वायुओंसे भिन्न कोई २ कूर्म कृकिल देवदत्त, धनञ्जय, नामक पाच प्रकार की और भी वायु शरीर मे उपस्थित रहती हैं, ऐसा मानते हैं।

उद्गारे नाग आख्याता कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकिलः क्षुत्कृतौज्ञेयः देवदत्तो विजृम्भण ॥
न जहाति मृतं वापि सर्वे व्यापि धनञ्जयः।

डकार लेना, आखों का मींचना, छींकना, तथा मर जाने के पश्चात् शरीर का फूलना, यह पाचों प्रकार के भिन्न २ कार्य, पाच प्रकार की वायुसे होते हैं। कहीं उक्त कार्यको प्राणापान आदि पच वायु के भी माने हैं। इन के इन मतान्तरों का रहस्य वही जाने। खैर! हम इनकी और अधिक विवेचना यहा न करके अब पित्त की ओर आते हैं।

पित्त के भेद और स्थान तथा कार्य

पित्तंपंचात्मकं तत्र-पंचभूतात्म कत्वेऽपि यत्तेजस गुणोदयात्।

पित्त भी पच भौतिक है, पर इसमें तेजस गुण अधिक होनेसे यह अग्न्यात्मक है।

पाचक पित्त का स्थान व कार्य—पाचक पित्त अग्नि के तेजसे उत्पन्न होता है इसीसे यह द्रवता रहित है। इसका स्थान **पक्वाशय मध्यगं**-पक्वाशय के मध्य ग्रहणी के भी मध्य, क्योंकि ग्रहणीको भी तो पक्वाशय मध्यग ऐसा माना है। फिर यह पाचक पित्त कैसा है इसके सम्बन्ध में शास्त्र बताता हैं कि **पाचकंतिलमाणं स्यात्** अर्थात् पाचकपित्त तिलप्रमाण अग्नि स्वरूप है और उसके निम्न लिखित कार्य हैं।

पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ प्रथक् तथा।

तत्रस्थमेव पित्ताना शेषाणामप्यनुग्रहम्॥

करोतिवलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतं।

यह पाचक पित्त अन्न को पचाता तथा प्रसाद भूत रस और मल रूप किट्ट को भिन्न २ करता है और बाकी के पित्तों की सहायता करता है।

यहां पर एक बात याद आगई उसे भी बता दिया जाय तो अनुचित नहीं। आत्रेय जी कहते हैं—

तत्राहार प्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्य-माभिनिवर्तते।

जब आहार उदर में जाकर पचता है तो उस प्रसाद संज्ञक रस से तो सात प्रकार की धातुएं बनती हैं पर किट्ट से भी कुछ बनता है या नहीं? इसका उत्तर आत्रेय जी यों देते हैं।

किट्टात् मूत्र स्वेद पुरीष वात पित्त श्लेष्माणः कर्णाक्षि नासिकास्य लोम कूप प्रजनन मलकेश श्मश्रु लोमादयाश्चावयवाः।

किट्ट से मूत्र पसीना, विष्ठा, वायु, पित्त, कफ, कान, नाक, आंख, मुख, रोम, कूप तथा प्रजनेन्द्रिय आदि के मल उत्पन्न होते हैं। इससे भिन्न केश, दाढी, मूंछ रोम नख आदि भी इसी किट्ट से बनते हैं। क्योंकि यह किट्ट पार्थिवाश है ?

यहा पर किट्ट से वात पित्त और श्लेष्म की उत्पत्ति जो बताई है यह वात पित्त और श्लेष्म कौन से हैं ? क्या कहीं **आत्मा वैजायते पुत्र** वाली बात तो नहीं। आत्रेय जी ने सूत्र० २८ अध्याय में तो इसके बारे में कुछ नहीं बताया। इस से अनुमान करना पडता है कि यह उक्त त्रिदोष से भिन्न नहीं।

भ्राजक पित्त का स्थान व कार्य—

त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वच:।

इसका स्थान त्वचा है और मालिश करने पर तैलादि का पचाना, छाया प्रकाशन आदि इसके कार्य हैं।

रंजक पित्त का स्थान व कार्य—

आमशयाश्रय पित्तं रंजकं रस रञ्जनात्।

रञ्जक पित्त का स्थान आमाशय है, कोई २ प्लीहायकृत्, मध्य भी मानते हैं। यह रस का रंजन करता है अर्थात् इस पित्त के द्वारा ही भुक्तोद्‌भूत रस का रजन होता है और रक्त मास के रूप में परिणत होता है, ऐसा अभिप्राय है।

आलोचक पित्त का स्थान व कार्य—

दृक्स्थमालोचकं पित्तं रूपालोचनत: स्मृतं।

आलोचक पित्त का स्थान नेत्र है। रूप या देखने का कार्य इस के द्वारा होता है।

साधक पित्त का स्थान व कार्य—

साधकं हृद्गतं पित्तं —

बुद्धि मेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थ साधनात् ।

साधक पित्त का स्थान हृदय है, यह बुद्धि, स्मरण शक्ति, अभिमान आदि द्वारा अभिलिखित वस्तुओं का साधक है या प्राप्त कराता है ।

इस प्रकार भिन्न २ पित्त के स्थान और कार्य शास्त्र ने बतलाये हैं। अब श्लेष्म के भी स्थान व कार्यों का अवलोकन करिये ।

श्लेष्म के भेद उस के स्थान तथा कार्य

श्लेष्म भी अवलम्बक क्लेदक, बोधक, तर्पक और श्लेषक नाम से पाञ्च प्रकार का है ।

अवलम्बक का स्थान व कार्य---अवलम्बक का निवास स्थान हृदय या छाती है । यह अवलम्बक श्लेष्म अपनी शक्ति से चारों प्रकार के श्लेष्मो की सहायता करता है तथा त्रिक् को धारण किये हैं अर्थात् कमर को सन्धान किये रहता है अथवा उत्साह बल को बनाये रखता है, हृदय की सहायता करता है ।

क्लेदक श्लेष्म का स्थान व कार्य—क्लेदक श्लेष्म का स्थान आमाशय है और अन्नको गीला करना शरीरको तर रखना या स्निग्ध रखना इसका कार्य है ।

बोधक श्लेष्म का स्थान व कार्य-बोधक श्लेष्म का स्थान जिह्वा है और इस का कार्य रसना में स्वाद का बोध कराना है ।

तर्पक श्लेष्म का स्थान व कार्य—तर्पक श्लेष्म का निवास सिर में है और इसका कार्य नेत्र नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण करना है।

श्लेषक श्लेष्म का स्थान व कार्य—श्लेषक श्लेष्म का स्थान शरीर की सन्धियां हैं और तमाम सन्धियों को अपने स्नेह से तर रखना सश्लेषित करना-इसका कार्य है।

त्रिदोष के स्वरूप पर कुछ मतभेद

यद्यपि वात पित्त और श्लेष्म का स्वरूप शास्त्रों ने बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है। तथापि कुछ व्यक्तियोंके विचार हैं कि **रूप रहित स्पर्शवान् वायु** को जो रुक्ष, लघु, विशद, शीतल रूप कहा है तथा पित्त को ऊष्ण, तीक्ष्ण लघु, चिकना, हरितपीत वर्ण वाला, मांस गन्धी कटुअम्ल रूप कहा है, तथा श्लेष्म को चिकना, शीतल, भारी, मधुरस्वादी, मन्द गति वाले रूप का कहा है यह त्रिदोष वास्तव में वह त्रिदोष नहीं, जिनको **दोष धातु मलं मूलं हि शरीरम्** कहा है। यह शरीर के मूल भूत त्रिदोष—

'शक्तिमन: शक्ति प्रायावस्था-वा दोषा वातपित्त श्लेष्माणस्त्रय:" ।

शक्ति स्वरूप हैं या शक्ति की भिन्न २ अवस्थाए हैं। और इनके सम्बन्ध में वे कहते हैं कि—

वायु-जीवन हेतु भूता: प्रत्येक शरीर क्रियाणा तथा तत्सम्बन्धि नामङ्गावयवाना गते कारका प्राणा-पान समानोदान व्यान रूपा शरीरस्थैका महती शक्ति: ।

पित्त के संवध में-शरीर स्वास्थायाप्यवश्यका स्वाभाविक शारीरोष्णय रक्षिका ।

उपयुक्त पाचनादि क्रियाभिर्युक्ता हास्यमलं प्रथक् कृत्याऽऽवश्यकं सारं गृहीत्वा रस रक्ताद्युत्पा-दिका साधक रंजकालोचक भ्राजक पाचक रूपाऽनेक तेजोमय कार्यं सम्पादयित्रिका शक्तिः ।

इसी प्रकार श्लेष्म के सम्बन्ध में—शरीरे सौम्य गुणप्रदा प्राकृति कोष्णताया वृद्धेश्चा व रोधिका शरीरा-वयवाना तर्पिका श्लेषिका सन्धानकरी पोषिका, क्लेद-कस्नेहन रसनावलम्बन श्लेष्मक रुपेका शक्तिः ।

जो व्यक्ति पित्त और श्लष्म को शक्ति स्वरूप मानते हैं वह चरक के शरीर स्थान अध्याय ७ मे दिये प्रमाण की ओर ध्यान दें । यथा—

शरीरस्य यत्त्वञ्जालि सङ्ख्येय तदुपदेक्ष्यामः ।

यहा स्पष्ट लिखा है कि शरीर में जितनी भी वस्तुएँ प्रकट हैं उनका अजलि के प्रमाण से वर्णन करते हैं । यहा आत्रेय जी कहते हैं कि—

अष्टौ शोणितस्य सप्तपुरीषस्य षट् श्लेष्माणः पंच पित्तस्य चत्वारो मूत्रस्य ।

अर्थात् शरीर में रक्त आठ अंजलि, मल सात अजलि, श्लेष्म छः अजलि, पित्त पांच अंजलि, और मूत्र चार अजलि होता है ।

यदि यह पित्त और श्लेष्म रक्त मूत्रवत् स्थूल वस्तु नही तेजोमय, श्लेषोमय, रूपैका शक्ति हैं तो इस शक्ति को किस तरह अंजली से नापा जाता है ? और उस शक्ति का स्थूल स्वरूप क्या है ? कृपया इसको स्पष्ट करें ।

जिन व्यक्तियोंने उक्त विचार रक्खे हैं उनके विचार जरूर ही आदर की दृष्टिसे देखने योग्य हैं। परन्तु उक्त मत को कोई भी स्वीकार करनेके लिये तय्यार है ? और यह शास्त्र सम्मत पक्ष है ? यह देखना है। हरएक को यह स्मरण रखना चाहिये कि पंचभूत पदार्थत्व रखते हैं इसी तरह तज्जनित या तत्प्रति रूप त्रिदोष भी पदार्थत्व रखते हैं। पदार्थाश्रित शक्ति रहती है, शक्ति आश्रित पदार्थ नहीं। त्रिदोष को शक्ति स्वरूप मानने वालों को चाहिये कि प्रथम इन्हें पदार्थ रहित शक्ति सिद्ध करें। इस में कोई संशय नहीं कि वैज्ञानिक अनुसन्धानों से ऊष्मा अवश्य ही शक्ति का एक स्वरूप सिद्ध होसकती है, परन्तु यह ऊष्मा भी तो पदार्थाश्रित ही रहती है। ऊष्मा स्वयम् पदार्थ नहीं. यह हम प्रथम ही पंच तत्वो के विवेचन में बता चुके हैं। और यदि त्रिदोष को शक्ति माने तो इन्हें किसकी शक्ति माना जाय ? यह प्रश्न सामने आता है। कई व्यक्ति कहेंगे कि यह पचभूतात्मक पदार्थों की शक्ति है और उन्हीं से उत्पन्न शरीरांगों में या सप्त धातुओं में सदा विद्यमान रहती है, जो कभी २ विपरीत कारण पाकर प्रादु-र्भूत होती है और इसी कारण से शरीर में सुख दु:ख रूप विकार प्रकट होते हैं। यह मत शास्त्र सम्मत नहीं। शास्त्र तो त्रिदोष को सप्त धातु से भिन्न पदार्थ मानता है और उसका स्वरूप भी स्पष्टतया बताता है अंजलियोंसे उसको नाप देता है, फिर यह शक्ति

रूप कैसे ? पहले यह प्रमाणोंसे सिद्ध करना चाहिये। जभी हम इसे शक्ति रूप मान सकते हैं इस तरह नहीं।

तीसरे यदि त्रिदोष को शक्ति स्वरूप माना जाय तो लघु गुर्वादि दोषों के जो गुण माने हैं उन्हें शक्ति में किस तरह घटाओगे ? यथा—

शरीरस्थ वायु के गुण

रुक्षः शीतो लघु सूक्ष्म श्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीत गुणैर्द्रव्यै मारुतः संप्रशाम्यति ॥

वायु, रुक्ष, शीतल, लघु, सूक्ष्म, चलायमान्, विशद और खर इन सात गुणों से युक्त है। इनके विपरीत गुण वाले द्रव्यों से यह शमन होता है।

शरीरस्थ पित्त के गुण

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रव मम्लं सरं कटु।
विपरीत गुणैर्पित्तं द्रव्यै राशु प्रशाम्यति।

पित्त, स्निग्ध, उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर, कटु, गुणों से युक्त है, इन के विपरीत गुण वाले द्रव्यों से यह शमन होता है।

शरीरस्थ कफ के गुण

गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छलाः।
श्लेष्माणः प्रशमं यान्ति-विपरीत गुणैर्गुणाः ॥

श्लेष्म, भारी, शीतल, मृदु, स्निग्ध, मीठा, स्थिर स्वभाव और चिकनाईदार गुणों से युक्त है इनके विपरीत गुण वाले द्रव्यों से यह शमन होता है।

अब यह बतलाइये कि यदि, वात को शरीर में जीवन हेतु शारीरिक क्रियाओं तथा अंगों की आत्ययिक गति में पांच रूप वाली शक्ति मानें तो रूक्षता, शीतलता, लघुता, सूक्ष्मता वगैरह यह गुण इस शक्ति के कौन से स्वरूप में मानेंगे ? क्या शक्ति भी रूक्ष, तर, शीतल, ऊष्ण, लघु, गुरु सूक्ष्म, स्थूल होसकती है ? खैर ! हम इस विषय को पण्डितों के विचारार्थ यहीं छोड़ते हैं।

कुछ शास्त्रीय त्रुटियां

(१) अंगों के वर्णन में त्रुटि--शास्त्र ने पांच भूतों के समग्र शरीर के अंग उपांगों की जो रचना बताई है यथा--पृथिवी तत्व से शरीर की हड्डी, नख, दांत, मांस, चर्म, केश आदि की रचना हुई, इसी तरह-*यदुच्छ्वास प्रश्वासौ मेषनिमेषा कुंचन प्रसारण गमन प्रेरण धारणादि तद्वायवीय। स्पर्शः स्पर्शनञ्च . तथा महान्ति चाणूनि श्रोतांसि तदन्तारिक्षं शब्द श्रोत्रञ्च। और ऊष्मयो पाचभो. अग्नेयं।*

नाम से जो अंग कहे हैं क्या श्वास, प्रश्वास, निमेष, उन्मेष, आकुञ्चन प्रसारणादि क्रियायें तथा उष्मा तेज आदि अव्यक्त क्रिया परिणाम तथा शरीर का अवकाश भाग छिद्र आदि यह सब भी शरीर के अङ्ग हैं ? यदि अंग हैं तो कैसे ? और इन अंगों की क्रियायें कौन २ सी हैं ? और इन के अवयव कौन २ से हैं ? इसे बताना चाहिये, क्योंकि यह शास्त्रीय विषय है।

(२) पञ्च भूतों से त्रिदोष रचना में त्रुटि—
शास्त्र कहता है सृष्टिमें कारण स्वरूप पांचभूत हैं इन्हीं पांच भूतोंमें

शरीर के तीन दोष (वात पित्त कफ) और सात धातुऐं (रस, रक्त, मांस मेद, अस्थि, मज्जा, और शुक्र) बनती हैं। वायु तत्वसे वात नामक दोष बना और अग्नि से पित्त नामक दोष की रचना हुई, कहीं २ द्रवरूप होनेसे पित्तकी रचना जलसे भी मानी है। देखो चरक। यदि पित्त दो तत्वोसे उत्पन्न हुआ हो तो दोनो भिन्न २ होने चाहिये। क्योकि जल के गुण अग्नि के गुणों के भिन्न हैं, भिन्न ही नही, प्रत्युत विपरीत हैं। जल शीतल है, अग्नि उष्ण यदि अग्नि का पित्त ऊष्म है तो जल का पित्त शीतल होना चाहिये, पर इस पित्त को जल से उत्पन्न कर के किस दोष के अन्तर्गत करादिया, कुछ पता नहीं चलता। खैर, इसे जाने दीजिये, आगे जल से श्लेष्म भी बना ऐसा माना है। तीन दोष तो तीन तत्वों से बने। पर आकाश और पृथिवी इन से कोई दोष उत्पन्न हुए, या नहीं? इसका वर्णन किसी ने नहीं किया। क्योंकि बनता तो पाच भूतों से सब कुछ है, फिर तीन दोष तीन ही भूतों से क्यों बने। उन दोनो भूतोंसे कोई दोप क्यों नहीं बने? इनमें क्या त्रुटि आई? क्यों यहा पञ्च भूतोंके पंचीकरण में अन्तर आगया? जब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पाचों के पांच गुण बने। तन्मात्राये बनी, इनके चिन्ह तक बने तो पृथिवी आकाश क्यों निःसन्तान रह गये? इस पर आज तक किसी ने विचार नहीं किया।

कार्य को देखकर कारण का अनुमान जिस तरह लगाया गया है, यदि यहां भी लगाते तो बडी आसानी से यह प्रश्न भी हल होसकता था। यथा—

शुभाशुभ कर्म तो सब के साथ लगे ही रहते हैं कर्मज शरीर कर्मज रोग, भी होते हैं।

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा'॥

तो है ही, फिर यदि इसे आकाश जन्य मान कर इसका नाम कर्मज दोष सिद्ध करते तो यह महाग्नि चाग्निनि श्वास, प्रश्वासादि अंगों के रूप से तो गिरा हुआ प्रमाण नहीं था, जो सिद्ध नहीं किया जासकता था। दूसरे यह तो छिपी हुई बात नहीं कि यूनानी चिकित्सा में हजारों वर्षों से रक्त को भी दोष मानते चले आये हैं। हमारे यहा भी कहीं २ रक्त को दोष माना है। देखो हारीत संहिता और सुश्रुत (रक्त वात और रक्त श्लेष्म रक्त पित्त आदि मिश्रित रोगों का वर्णन) पर पता नहीं किस त्रुटि के कारण रक्त को सर्व मान्य दोष का स्थान नहीं मिला। यदि रक्त को दोष स्वीकार कर लिया जाता, तो दूसरी ओर रक्त धातु भी रह सकता था 'धारणाद्धातवस्तेस्युः' से इसे कोई अप्रमाणिक तो सिद्ध करही नहीं सकता था। जब तीन २ दोषों के एक निवासस्थान होसकते हैं तो क्या एक रक्त यह दोष और धातु बनकर नहीं रह सकता था ? इसके दोष मान लेने पर दोषों का पचीकरण भी ठीक होसकता था।

आकाश से उत्पन्न कर्म दोष, वायु से वात दोष, अग्नि से पित्त दोष, जल से रक्त दोष, तथा पृथिवी से श्लेष्म दोष, युक्ति युक्त बन जाते थे। यह एक भारी त्रुटि रह गई आशा है त्रिदोष वादी इस पर अवश्य ही विचार करेंगे।

दोषों के द्रव्य गुण वर्णन में त्रुटि

दोषों का स्वरूप वर्णन करते हुए आत्रेय जी वायु को रुक्ष, लघु, विशद, शीतल, अमूर्त्त रूप वाला कहते हैं। अर्थात् रूक्षता, लघुता, विशदता, शीतलता, अमूर्त्तता, यह सब वायु के स्वरूप में हैं। इसी प्रकार पित्त के स्वरूप में द्रवता, खरत्व, अम्लत्व, कटुता, स्निग्धतादि माने हैं। एक ओर तो वह रूक्षता श्लक्ष्णता, लघुता, गुरुता, श्यामता, विशदता, शीतलता, ऊष्णता को दोषों का स्वरूप बतलाते हैं दूसरी ओर इन्हीं को रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म कहकर वहां इन्हें वायु के गुण बताये हैं। क्या जो रूक्षता वायु का स्वरूप बन सकती है वही वायु का गुण भी बन सकती है? क्या द्रव्य और गुण एक वस्तु है? हरगिज नहीं। शास्त्र तो कहता है कि—

द्रव्य कर्म भिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः।

वैशेषिक दर्शन।

तथा—

सत्वे निविशतेऽपैति पृथग् जतिषु दृश्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्व प्रकृतिर्गुणः।

महाभाष्य।

उक्त प्रमाण से स्पष्ट है कि गुण द्रव्य कर्मसे भिन्न सत्तात्मक है फिर पता नहीं लगता कि किस आधार पर द्रव्य रूप को गुण और गुण को द्रव्य रूप दे दिया गया?। वास्तव में देखा जाय

तो गुण एक ऐसी सत्ता है जो सदा ही द्रव्याश्रित रहती है। इसी लिये गुण को द्रव्यका क्रियात्मक परिणाम माना है। क्योंकि गुण का स्वरूप पहिले नहीं देखा जाता प्रत्युत क्रियाकाल के पश्चात् उसका रूप प्रकट होता है। सदा ही गुण गुणी के आश्रित रहता है यह बात तो सब ही मानते है फिर इसमें ननु नच की आवश्यकता ही क्या ?

दूसरे इन्हें हम द्रव्यो के स्वरूप मे न मान कर उनका गुण माने तो गुरुता, लघुता, धर्म द्रव्यों में पहिले ही से विद्यमान देखे जाते हैं। यह घट व बढ नहीं सकते न बदले जा सकते हैं। यदि द्रव्यों की अङ्गीभूत सत्ता बदल जाय तो द्रव्यों का स्वरूप भी बदल सकता है। फिर हम उसको किसी निश्चित लक्षण से लक्षित नहीं कर सकते।

इस से भिन्न इस में और भी बड़ी भारी बात यह है कि जब कोई सत्तात्मक पदार्थ कारण से कार्य रूप को प्राप्त होता है अथवा पहिला रूप छोड़ कर किसी दूसरे रूप में आता है तो जो गुण स्वभाव उसके कारण में देखे जाते हैं ठीक वही गुण स्वभाव कभी भी कार्य रूप या उसके दूसरे रूप में नहीं मिलते, न मिलने चाहिये। जिसका स्वरूप बदल गया उसके गुण स्वभाव का बदल जाना एक प्रयोग सिद्ध बात है। जब जल का रूपही श्लेष्म नहीं रहा, अग्नि रूप ही पित्त नही रहा, तो ठीक वही गुण स्वभाव–जो अग्नि जल के कहे गये हैं–श्लेष्म और पित्त में कैसे बने रहे ? यह एक गम्भीर प्रश्न उठता है। जो गुण कारण में हों ठीक वही गुण कार्य में भी रहें तो द्रव्य के कारण से कार्य में

रूप आने पर अन्तर किस बात का रहा ? और सृष्टि में गुण विभिन्नत्व कैसे हुआ ? इसका उत्तर दें ।

गुरु, लघु, शीतोष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छल, श्लक्ष्ण, खर, सूक्ष्म, स्थूल, सान्द्र,- द्रव दोष धातु गुणः । जो यह २० गुण शारीरिक दोषों के या धातुओं के बताये हैं क्या यह गुण नहीं ? हम तो समझते हैं कि इन्हें कोई भी विचारवान गुण नहीं कह सकता ।

इस में पहिली बात तो यह देखने के योग्य है कि गुणों की संख्या बीस बताई हैं इन में से गुरु और लघु दो बताये हैं इसी तरह शीत और उष्णता दो गुण बताये हैं । वास्तव में वह दो २ नहीं । गुरुता का अभाव लघुता है और लघुता का अभाव गुरुता है । इसी प्रकार शीतता का अभाव उष्णता है, ऊष्णता का अभाव शीतता है । इन दोनों को नापना हो तो अपने ही हाथ से नाप लीजिये । जो वस्तु हाथ को हल्की लगे या जिसका स्पर्श प्रतीत न हो वह हल्की, जिसका स्पर्श प्रतीत हो वह भारी । इसी तरह जो वस्तु हाथ के स्पर्श से ऊष्ण लगे वह ऊष्ण जो शीतल लगे वह शीतल कही जाती है । यही हमारा गुरुता, लघुता, शीतलता, ऊष्णता का मान रहा है, क्या यह सच नहीं ?

यदि इससे भिन्न कोई मापक विधि थी तो बताई जाय कि अमुक विधि से लघुता, गुरुता निकाली जाती थी तथा अमुक की अपेक्षा से ऊष्णता, शीतलता नापी जाती थी । क्योंकि इस समय तो लघुता, गुरुता तथा शीतलता, ऊष्णता अपेक्षित मानी जाती हैं, न कि बिना मान के संज्ञा रूप । इस तरह उक्त बीस

गुण दस ही बनते हैं बीस नहीं। रात दिन कहने से यह दो चीजें नहीं बनतीं। प्रकाश का अभाव रात्रि है प्रकाश की विद्यमानता दिन है। इसी प्रकार गुरु, लघु, शीतोष्ण बीस गुण नहीं प्रत्युत कोई तो द्रव्यों की अवस्था का परिणाम स्वरूप है कोई आत्म स्वरूप। इस की प्रयोगिक परीक्षा हम आगे देते हैं।

त्रिदोष में गुणों की परीक्षा

क्या बाहर का वायु क्या शरीर का वात दोनों को ही रूक्ष लघु, विशद, शीतल, खर, गतिशील अमूर्त माना है। गुणों की एकता देख कर हम वाह्य-वायु और शरीर के वात इन दोनों को भिन्न २ रूप वाले होंगे यह नहीं मान सकते।

चरक के वात कलाकलीय अध्याय में जो वायु के सम्बन्ध में कहा है तथा आत्मरूपता गुणैक्यता का उन्होंने जो वर्णन किया है उस में हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि जिस वायु को जगत् में कारण माना है ठीक उसी को शरीर में भी कारण माना है। इस लिये चाहे वाहर का वायु हो चाहे शरीरान्तर्गत दोनों को एक मान कर इस पर कुछ प्रायोगिक विचार रक्खेंगे।

पच तत्वों की मीमासा में बताया गया है कि वायु उप्णजन और समीरजन दो वायव्य तत्वों के मिश्रण का परिणाम है। इस में रूक्षता व शीतलता स्थानिक द्रव्यों में विद्यमान उत्ताप की न्यूनाधिकता के कारण आती है, न कि वायु का स्वभाविक धर्म है।

प्रयोग के लिये एक वडे कमरे को वनवाइये जिसमें बिजली

हीटर (उत्तापक) यन्त्र लगा दीजिये उसी कमरे को शीतल करने वाले यन्त्र भी लगा दीजिये । अब उस कमरे को चारों ओर से बंद कर के मध्य में लकड़ी का ऊचा मञ्च बनाकर उस पर बैठ जाइये और आज्ञा करिये कि उस कमरे को शीतल करें । थोड़ी देर में आपको उस कमरे की वायु शीतल लगने लगेगा । यहां तक वायु में शीतलता वढ सकती है कि आप कापने लग जायेंगे ।

अब आप आज्ञा दीजिये कि उत्तापक यन्त्रों में विद्युत धारा बहादें । थोडी ही देर मे आपको वायु में परिवर्तन दिखाई देगा देखते २ कमरे का वायु गरम होजायगा । जैसे २ वायु गरम होता जायगा वैसे २ वायु हलका व रुक्ष होता चला जायगा। रूक्षता, व शीतलता तो उत्ताप व जल कणों की न्यूनाधिकता के कारण वायु मे उत्पन्न होती है । वायु में द्रव्यत्व या पदार्थत्व है इसी लिये यह समीपवर्ती पदार्थों से जिनको स्पर्श करता है, उनकी सरदी गर्मी अपने में ले लेता है । इसी लिये यह जल्दी ही ऊष्ण और शीतल होजाता है । जब यह स्थानिक उत्ताप वृद्धि के स्पर्श से अधिक गरम होजाता है तो इसमें विद्यमान जल कण उत्ताप के कारण उक्त उत्ताप स्थान से दूर होते चले जाते हैं । इसी से उक्त स्थान का वायु रूक्ष होता चला जाता है । इसी लिये जहा ऊष्णता होगी वहां रूक्षता होगी रूक्षता ऊष्णता का सहधर्म है, अर्थात् उत्ताप से रूक्षता आती है । जहा शीतलता होगी वहा तरी होगी । तरी, श्लक्ष्णता, रूक्षता के विरोधी रूप है जब हम वायु को रूक्ष कहें तो इसका अभिप्राय यही होता है कि वायु में जल कणों का अभाव हो रहा है और

उस में उत्ताप की मात्रा अधिक है। वायु को लघु माना गया है लघुता का परिमाण क्या ? क्योंकि इस समय तो वायु से भी हलका उदजन (हाइड्रोजन) वायव्य हमारे सामने है।

आज कल पैसे २ के रबड़ी गुब्बारे इसी वायव्य से भरकर इसी वायु में छोड देते हैं जो हलका होने के कारण वायु को चीरता हुआ आसमान की ओर चले जाते हैं।

यदि यह वायु से हलका न हो तो कभी भी ऊपर उठ नहीं सकता। हलकी चीज ही ऊपर उठेगी। जब यह वायु से हलका पदार्थ हमारे सामने है तो फिर वायु में लघुत्व का परिमाण किस से किया गया ?

क्या इसका अर्थ कहीं यह तो नहीं कि यह खुला स्थान पाकर चारों ओर फैल जाता है इसी लिये इसे लघु व चल कहा है ? यदि यही बात है तो इस समय कार्बन डाईऑक्साइड एमोनिया, क्लोरीन, उदजन आदि वायु रूपधारी अनेकोंही वायव्य हैं सबों में यही बात पाई जाती है। इस लिये वायु को ही लघु, चल कहना ठीक नहीं, और न यह गुण माने जासकते हैं। वायु को विशद और खर माना है। विशदता का अर्थ है उज्वलता या पारदर्शकवाही उज्वलता और खरत्व यह भी गुण इस में नहीं। विशदता तो वायुकी वर्ण बोधक संज्ञा है न कि गुण, इसी प्रकार खरत्व तीक्ष्णता बोधक एक संज्ञा है। इनको भी गुण नहीं माना जासकता।

अब आइये पित्त की ओर। इस के रूप और गुण को देखिये

(१) आत्रेय जी कहते हैं कि—

औष्ण्यं, तैक्ष्ण्यं लाघवमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुण वर्जो गन्धश्चविस्रो रसौच कटुकाम्लौ पित्तस्यात्म रूपाणि।

चरक सूत्र स्थान अध्याय २१

ऊष्णता, तीक्ष्णता, लघुता, कुछ स्निग्धता युक्त, सफेद और रक्त वर्ण से भिन्न वर्ण वाला मांसगन्धी कटु अम्ल स्वाद वाला, पित्त का स्वरूप है। उक्त कथन से स्पष्ट है कि आत्रेय जी का आधुनिक समय मे यकृतस्थ पित्ताशय, से निकलने वाले पित्त की ओर सकेत है। उन्होंने इस के स्वरूप को बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है। पित्त वास्तव मे श्वेत रक्त वर्ण रहित हरित पीत वर्ण वाला तथा स्वाद में अम्ल कटु द्रव रूप द्रव्य है। पर इस में किञ्चित् स्निग्धता जो मानी है पित्त मे स्निग्धता नहीं होती। प्रत्युत स्निग्धता का तो पित्त को शत्रु समझना चाहिये। पित्त स्रवण मे तो स्निग्धता मे रसायनिक परिवर्तन आता है। पित्त से ही स्नेही पदार्थों का पाचन होता है। जो स्नेह को पचाने वाला हो वह स्निग्ध रूप नहीं होसकता न इस के स्वरूप में स्नेहांश पाया जाता है। न स्निग्धता, ऊष्णता, तीक्ष्णता, लघुतादि इसके गुण ही माने जासकते हैं। क्योंकि एक ओर तो स्निग्धता ऊष्णतादि को जब पित्तस्यात्म रूपाणि कहा जाता है तो आत्मत्व से गुण का समावेश नहीं हो सकता क्योंकि गुण द्रव्य से भिन्न सत्तावान् माना गया है। हां पित्त में यह

बात जरूर देखी जाती है यह स्वाद में अम्ल कटु है पर जब यह पच्य लेही या स्नेही पदार्थों से मिलता है तो इसका क्रियात्मक परिणाम क्षारीय होता है। उस समय माधुर्य फेन भाव च जो कहा है ऐसा भी नहीं होता अम्लता कटुता, जाता रहता है इस की प्रतिक्रिया क्षारीय होने से हम इसे पित्त का गुण कह सकते हैं। क्योंकि इसका कार्य यह गुण के लक्षणों से पूर्णतया घटता है। इस लिये हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि पित्त में यह गुण है कि किसी पचन शील पदार्थ में मिलता है तो उसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होजाती है। और जो यह कहा जाता है कि पित्त ऊष्ण है पित्त में ऊष्णता या गर्मी नहीं होती। न पित्त की ऊष्णता से शरीर को गर्मी मिलती है पित्त को लघु माना है। जब पित्त का स्वरूप द्रव है तो लघुता का अर्थ क्या ? क्या यह भी वायुवत् फैलने वाला अमूर्त पदार्थ है? यदि यह बात नहीं तो क्या शरीर में लघु होकर विचरता है या स्थूल से लघु रूप धारण कर लेता है क्या बात है ? इसे भी बताना चाहिये।

अब आइये श्लेष्म के रूप की ओर श्लेष्म के सम्बन्ध में आत्रेय जी कहते हैं कि—

स्नेह शैत्य शौक्ल्य गौरव माधुर्य मान्द्यानि श्लेष्मण आत्म रूपाणि।

स्निग्धता या चिकनाई, शीतलता, श्वेतता, भारीपन, मीठापन, मन्द गति या मन्दता यह श्लेष्म के आत्म स्वरूप हैं। अर्थात् श्लेष्म का स्वरूप चिकना है शीतल है, श्वेत है, भारी है, और स्वाद में मधुर तथा गति में मन्द है।

यदि यह श्लेष्म का स्वरूप है तो इसे गुण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो त्रुटि दोष वात पित्त में है वही यहां भी है सम्भव है कई व्यक्ति यह कहें कि वात पित्त श्लेष्म के स्वरूप को मनुष्य शरीरके अन्तर्गत् कर के उक्त २० गुण माने गये हैं क्योंकि श्लेष्म के गुणो का वर्णन करते हुए आत्रेय जी कहते हैं कि—

गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीत गुणैर्गुणाः।

श्लेष्म जब कुपित होकर शरीर मे गुरुता, शीतलता, मृदुता उत्पन्न करता है तथा मुह में मधुर स्वाद तथा जिह्वा में चिकनाहट उत्पन्न करता है तो इन गुणों के विपरीतकारी द्रव्यों के सेवन से कुपित श्लेष्म अपने गुणो के साथ शान्त होजाता है। यहां पर गुरुता, शीतलता आदि का स्वरूप शरीर में दिखाई देता है इस लिये यह कफ के कारण प्रकुपित हुआ माना जाता है। और विपरीत गुण युक्त द्रव्यों के देने से इनका शमन भी होजाता है फिर इन्हें क्यों न गुण माना जाय?

यह सही नहीं प्रथम तो त्रिदोष का स्वरूप ही शरीरमें कारण रूप सिद्ध नहीं होता। दूसरे जिस बात को त्रिदोष का आत्म रूप या शरीर कहा जाता है उसी को दूसरे स्थल पर गुण कहा जाता है और उन्हें ही प्रकुपित माना जाता है।

यदि द्रवता, सूक्ष्मता, लघुता यह वायु के स्वरूप के बोधक नहीं, द्रवता, कटुता, अम्लता पित्त के स्वरूप के बोधक नहीं,

स्निग्धता, शुक्लता, मधुरता, पिच्छलता, श्लेष्म के स्वरूप के बोधक नहीं, यदि यह गुण हैं तो इन के प्रकोप के लक्षण क्या हैं? क्या जब वायु की सूक्ष्मता लघुता का प्रकोप होता है या यह बढ़ते हैं तो क्या शरीर सूक्ष्म या लघु होने लगता है या उड़ने की चेष्टा करता है क्या पित्त की द्रवता, कटुता, अम्लता, का प्रकोप होता है तो शरीर के अग पानी २ होने लगते हैं, या अम्ल कटु बन जाते हैं। यदि जिह्वा से अधिक लार टपकने लगी तो क्या इसी का अर्थ है द्रवता का बढना या और कुछ? मुह का स्वाद कटु होजाय तो क्या यही है पित्त के कटु गुण बढने का लक्षण? क्या जिह्वा में अम्लता का स्वाद आने लगे तो इसे ही समझना चाहिये कि पित्त के उक्त गुण का प्रकोप होरहा है? आधुनिक समय में उक्त एक भी बात का सही सम्बन्ध नहीं मिलता इसी लिये इन्हें त्रिदोष जनित नहीं माना जा सकता।

दोषों का शरीर में वास्तविक कार्य व्यवहार

ऊपर हम ने शास्त्रीय पक्ष को सामने रख कर उस पर विचार किया है अब वैज्ञानिक पक्ष से त्रिदोष की स्थिति पर विचार करेंगे।

वायु का निवास व कार्य व्यवहार—उस तरह तो वायु रूपधारी अनेकों पदार्थ सृष्टि में पाये जाते हैं परन्तु मनुष्य का या प्राणिमात्र का उन सब से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। हां एक वायु ऐसा पदार्थ है जो पृथिवी को चारों ओर से घेरे है

अथवा यों कहो कि पृथिवी पर वायु का समुद्र है, जिसमें प्राणि-मात्र रहते हैं जिस तरह जलीय समुद्र में जल जन्तु । यह वायु सजीव जगत्के लिये उपयोगी ही नहीं प्रत्युत जीवन कहना चाहिये। बिना इस वायु की उपस्थिति के कोई भी एक क्षण जीवित नहीं रह सकता, अर्थात् जीवन ही इसके आधीन है।

उपरोक्त कथन का कहीं यह अर्थ न समझ लेना चाहिये कि सारा वायु ही उपयोगी होगा, यह बात नहीं। वास्तव में बात यह है कि वायु समीरन और ऊष्मजन का मिश्रित रूप है इसमें से समीरन तो किसी भी प्राणि के लिये काम का नहीं। न तो यह शरीर मे जाकर खपता है न इस के असली रूप मे विकार आता है प्रत्युत जैसा का तैसा ही बना रहता है । पर इस के साथ एक दूसरा वायव्य जिस को ऊष्मजन कहते हैं इस का उपयोग प्राणिमात्र करते हैं । यह वायु का एक भाग है जिसके बिना कोई भी प्राणि जीवित नहीं रह सकता। उस तरह तो शरीर में उसका कोई भी निवास स्थान नहीं, पर जितने भी प्राणि श्वास लेने वाले हैं सब के भीतर यह श्वासके साथ फुफ्फुस में जाता है और वहां के अवयव इस वायु को ग्रहण करके शरीर के भीतर रक्त में पहुचा देते हैं। इस वायु में यह गुण है कि इस की उपस्थिति में ज्वलनशील पदार्थ यदि सुलग रहे हों तो जलने लगते हैं तथा जहा रसायनिक क्रिया हो रही हो वहां यदि यह पहुंच जाय तो इसकी विद्यमानता में रसायनिक क्रिया वेग से होने लगती है।

हम जो कुछ खाते हैं उस खाद्य द्रव्य पर प्रथम तो उदरमें

रसायनिक क्रिया होती है तभी भुक्त पदार्थ पच कर शरीर में खपने के योग्य बनते हैं। जो खपने योग्य बन जाते हैं अपितु रस रूप होजाते हैं उन्हें तो आचूषक प्ररोह चूस २ कर रक्त में पहुचा देते हैं, पर रक्त मे पहुच कर वह इसी रूप में नहीं रहते, प्रत्युत वहां भी इन में रसायनिक परिवर्तन होता रहता है और ऐसी अवस्था मे तो पूर्ण रीति से होता है जब काफी मात्रा में ऊष्मजन पहुचता रहे। यही नहीं ऊष्मजन के योग से शरीर के एक २ सजीव कण में रसायनिक परिवर्तन आता रहता है और वह सब इसकी विद्यमानता मे अपने जीवन व्यापार को अच्छी तरह पूर्ण करते हैं। इस वायव्य के प्रभुत्व से शरीर की रसायनिक क्रिया ही पूर्ण नहीं होती इस से भिन्न शरीर का स्थिर उत्ताप भी इसी की विद्यमानता से सदा एक सा बना रहता है। शरीर में उत्ताप से जनन का कार्य भी इसी के द्वारा सम्पादित होता है। यदि यह वायव्य एक क्षण भी किसी अवयव तक न पहुच सके तो उसी समय उसकी अवस्था बिगडने लग जाती है और वह जीवन व्यापार चलाने मे असमर्थ होजाता है।

इसी कारण इस वायु का नाम प्राण वायु भी पडा। पर प्राण वायु के कहने से यह अभिप्राय नहीं कि सारा का सारा वायु ही प्राण स्वरूप है। नहीं २ वायु का यह एक भाग जो ऊष्मजन अर्थात् जो ऊष्मा को उत्पन्न करने वाला है उसी को प्राण नाम से पुकार सकते हैं अन्य को नहीं। क्योंकि प्राणियों का यही प्राण है दूसरा नहीं। यह वायु भी सिवाय श्वासोच्छ्वासके किसी और मार्ग से शरीर मे प्रवेश नहीं करता। शरीर में प्रवेश का

अर्थ यह नहीं कि छिद्रों में घुसना। नाक मुंह कान अन्न प्रणाली आदि में तो यह सदा ही भरा रहता है, क्योंकि खाली स्थान में वायु के साथ पहुंचना इसका भी स्वभाव है पर अन्य स्थलों में इसका उपयोग अवयवों द्वारा नहीं होता यह निर्विकार जैसा का तैसा बना रहता है। इसी लिये वायु के संग या स्वतन्त्र शरीर में और विधि से न इसका कार्य व्यवहार देखा जाता है, न इस के द्वारा होता है।

कई व्यक्ति कह सकते हैं कि जब इसका सिवाय फुफ्फुसों द्वारा लिये जाने के और कोई कार्य व्यवहार नहीं तो शरीर में कई वार पेट में चलित गुल्म देखा जाता है, शरीर में चलित पीड़ा होती है अपान के रूप में बराबर निकलता रहता है आध्मान होने में यह साफ २ प्रतीत होता है। कभी २ विष्टब्धता होते ही ऐसा ज्ञात होता है कि कोई वायु सा पदार्थ ऊपर की ओर जाकर सिर को जकड़ रहा है। स्त्रियों में योषापस्मार का आवर्त होने पर एक वायु का गोला सा नाभि की ओर उठ कर गले से टकराता प्रतीत होता है क्या यह सब उक्त वायु की उपस्थिति के तथा विकार (कोप) के चिन्ह नहीं ?

हम पीछे बतला भी चुके हैं कि सृष्टि में अब यही एक वायु नहीं प्रत्युत इस जैसी आकृति के अनेक वायव्य देखे जाते हैं जो सब वायु जैसा अमूर्त रूप तो रखते हैं पर वह वायु नहीं।

यह अच्छी तरह सदा स्मरण रखना चाहिये कि शरीर में खाद्य द्रव्य पाचन शक्ति के अनुसार पहुंचाये जांय तो शरीर में उन पर जो रसायनिक परिवर्तन आता है वह सही होता रहता है,

पर जब पचाने के लिये पाचक शक्ति से अधिक मात्रा भोजन की उदर में पहुचा दी जाय, या किसी कारण से पाचक रस निर्बल हो रहे हों तो ऐसी अवस्था में जो २ रसायनिक परिवर्तन भोज्य द्रव्य पर आना चाहिये था वह नहीं आता। उस में विकृत सन्धान (किण्व क्रिया) होने लगती है जिसका परिणाम यह होता है कि उक्त रसायनिक परिवर्तन के समय ऐसे पदार्थ की रचना होने लगती है जिनकी शरीर को आवश्यकता नहीं होती। कई ऐसे इण्डील (गन्धित) इण्डस्टोल (दुर्गन्धित) एमोनिया के यौगिक, गन्धक के यौगिक, वैन्जीन के यौगिक, फीनोल के यौगिक उस समय बनते हैं जो वायव्य रूपधारी होते हैं, जिस समय इन का बनना आरम्भ होता है यह हलके होने के कारण बहुधा ऊपर को उठते हैं। यदि इन्हे मार्ग न मिले यह रुक जाय तो निकलने की चेष्टा में हर तरफ दबाव डालते हैं जिसके परिणाम स्वरूप आध्मान शूल आदि व्यथायें उत्पन्न होजाती है इन का सजनन केवल उदर मे ही नहीं होता रक्त में भी इनका सजनन होता है। अनेक वार तो उदर में उत्पन्न उक्त वायव्य रुक कर आचूषक प्ररोहों से रक्त में प्रवेश कर जाते हैं जिससे रक्त द्वारा यह सारे शरीर में फैल जाता है।

कई वार रक्त में जाल (तन्तुओं) मे भी इसका अवरोध होता है, जिस के प्रताप से चल पीडा, स्तब्धता, तोद, भेद आदि कष्ट देखे जाते हैं। उक्त विकारी या गन्ध पूर्ण वायु को संजनन करने वाले कुछ सजीव प्राणि (कीटाणु) भी प्रायः बृहदान्त्र मे पाये जाते है जो मल मे रहकर उसको खाने के समय सन्धान पूर्ण

बना डालते हैं अथवा यों कहिये कि उनके जीवन व्यापार के कारण ही एमोनिया गन्धक आदि के यौगिक की रचना होने लगती है जो प्राय: अत्यन्त गन्ध रूप होते हैं।

दर असल बात तो यह मालूम पड़ती है कि पूर्व काल में इन अनेक वायु रूपधारी वायव्यों की परीक्षा का कोई साधन तो था नही जिस से रक्त की असलीयत जानी जाती। न उन्होंने अपान वायु के सरने में दुर्गन्ध को देखकर भी यह समझने का कष्ट न उठाया और न विचार किया कि क्या कभी यह पवित्र वायु भी दुर्गन्धि पूर्ण हो सकता है ? यदि इस अपान वायु की ही परीक्षा कर लेते तो शायद फिर उन्हें इसे अपान वायु नाम देने की आवश्यकता न दिखाई देती। इसका नाम वही रक्खा जाता जो उसका रूप होता।

इस प्रकार उदर में पैदा होने वाले या रक्त द्वारा शरीर में विचरण करने वाले वायव्य यौगिकों को वायु मानना केवल भूल ही नहीं प्रत्युत अपने को धोखे में डालना है। रहा यह कि शास्त्र ने **वस्ति पुरीषाधानं कटिसक्थिनी पादा वस्थीनि वातस्थानानि** जो कहा है। इन स्थानों में से कोई भी स्थान ऐसा नहीं जिस में वायु रह सकता हो वस्ति पक्वाशय, कमर, जाघ पैर और अस्थि मे कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहां वायु के रहने की जगह हो।

शरीर मे प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान यह पांच रूप देखे जाते हैं तथा उनके शरीर में भिन्न २ कर्म बताये गये हैं।

जिस ने शरीर शास्त्र का सही २ अध्ययन किया है वह

जानता है कि वस्ति मूत्र का संग्रहालय है और मलाशय मलका संग्रहालय। जो मूत्र वृक्कों द्वारा रक्तसे विश्लेषित होकर मूत्र प्रणाली से वस्ति में आता है वह यहां संचित होता रहता है और जब वस्ति मूत्र से भर जाती है तो मांस पेशियों में दबाव पड़ता है और मूत्रेच्छा होती है। मूत्र की इच्छा करते ही वस्ति की मांस पेशियों में संकोच होता है जिस से वस्ति का मुंह खुल जाता है और मूत्र शिश्न नली से बाहर होने लगता है। इस वस्ति में कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहां वायु के या किसी और पदार्थ के रहने का स्थान हो। ठीक यही बात मलाशय में देखी जाती है। कई वैद्य कहेंगे कि मूत्रेच्छा के समय वस्ति स्थान के सकोचन प्रसारण का जो कर्म है यह वायु की उपस्थिति सिद्ध करता है। वाह ! क्या खूब !! जिन्होंने शरीर धर्म शास्त्रका अनुशीलन किया है वह अच्छी तरह जानते हैं कि शरीर में स्नायविक समूह हैं जिन से दो प्रकार की क्रियायें होती रहती हैं एक ऐच्छिक दूसरी अनैच्छिक। श्वास प्रश्वास और हृदय की, आमाशय व आन्त्र की गति तो इच्छा रहित स्वतः होती रहती है जिस पर किसी भी व्यक्ति का नियन्त्रण नहीं। इस से भिन्न मूत्रेच्छा, मलेच्छा, विषयेच्छा, खान, पान, व गति आदि की इच्छा होने पर जिन २ अंगों को प्रेरणा किया जाता है वह गति शील होते हैं। कहीं पदार्थों के दबाव के कारण उसका बोध होकर प्रेरणा होती है जैसे मल और मूत्रेच्छा कहीं प्रथम इच्छा होकर पुनः उक्त अंगों में प्रेरणा होती है तब उन में क्रिया शीलता आती है जैसे भोजन करने के साथ रसोत्पादनी ग्रन्थियों की क्रिया, विषयेच्छा के

समय शिश्न व वृषणादि में दृढ़ता संकोचादि की क्रिया । यह क्रियायें मनः शक्ति की प्रेरणा से स्नायविक तन्तुओं द्वारा स्थानिक अंगों में आती है और वह अपना २ कार्य सम्पादन करने लगते हैं इसमें न किसी वात का हाथ होता है न प्राण, उदान समानादि का । कई वैद्य कहेंगे कि मलाशय में तो स्पष्ट वायु देखा जाता है बारम्बार अधः निस्सरण से वायु निकलते देखा जाता है उद्गार में भी स्पष्ट वायु का निर्गत होते समय बोध होता है फिर किस तरह कहते हो कि शरीर में वायु नहीं । ऐसे विचारधारी व्यक्तियों को शरीर धर्म शास्त्र व शरीर का अच्छी तरह अनुशीलन करना चाहिये तब उन्हें पता लग सकता है कि अपान वायु क्या पदार्थ है तथा उद्गार में निकलने वाले वायव्य क्या पदार्थ हैं ?

भोजन के पश्चात् जो उद्गारमें वायु निकलता है वह तो प्रायः यही वायु होता है जिस में हम सब सास लेते हैं, क्योंकि इस वायु का यह स्वभाव है कि जहा खाली स्थान मिले वहा पहुंच जाता है जिस तरह बोतल में यह घुसता है उसी तरह उदर के खाली स्थानों में मुंह मार्ग से घुस जाता है पर इस में कोई विकार नहीं आता । जैसे बोतल में भरा रहता है उसी तरह उदर में भरा रहता है । जब हम भोजन करते हैं तो भुक्त द्रव्यों के उदर में पहुंचने पर यह वायु उदर से उसी तरह बाहर होता है जिस तरह बोतल में जल भरते समय यह बुलबुले देकर बाहर होजाता है उदरस्थ वायु जिस समय निकलता है उस समय उद्गार आता है और यह वायु बाहर होजाता है । कई बार उद्गारकी वायुमें अम्लता की व कटुता की गन्ध आती है और उद्गार काल में छाती जलने लगती है । इस

का प्रधान कारण यह होता है कि जब वायु आमाशय के नीचे ग्रहणी स्थान से या इस से भी नीचे क्षुद्रान्त्र से चल कर ऊपर आरही हो और उस समय यदि पित्ताशय का मुह खुला हो–जो प्रायः भोजन करने के कुछ समय पश्चात् खुला रहता है तो वायु उस पित्त को स्पर्श करता उसको धक्का देता हुआ ऊपर को उठता है अनेक वार तो पित्त उसके धक्के से ग्रहणी नलिका से चढ कर आमाशय में आजाता है। उस समय उस पित्त के कणों का कुछ न कुछ भाग वाष्प बन कर वायु के साथ उद्गार से बाहर निकलता है जिसका स्पर्श गल, जिह्वा, तथा नासापुट से होता है जिसको स्वाद तथा गन्ध बता देता है और पित्त के आमाशय में पहुच जाने पर उस के अम्लीय प्रभाव से आमाशय में जलन होने लगती है। इस को हमारे यहा अम्ल पित्त भी कहते हैं। यह उद्गार में निकलने वाला या खाली स्थानों में प्रपूरित रहने वाला वायु भी ऐसा वायु नहीं जिसे हम शरीर का घटक या शरीर का कोई अंश मान सकें।

कई वैद्य कहेंगे कि यह बातें तो इस जमाने की हैं पूर्वकाल में न समीरन था न ऊष्मजन प्रत्युत जितने भी वायव्य हैं सब को सजातीय होने से एक वायु कहा या माना गया है। वायव्य वायु से भिन्न नहीं। इस लिये वायु का चाहे कितना ही कोई हिस्सा शरीर के काम आवे शरीर में चाहे कितना ही कम हिस्सा खपे वह वायु ही माना जासकता है दूसरी चीज नहीं। अब ऐसा मानना और कहना भूल है।

जब तक हम किसी तत्व की असलीयत को और उस के

अंशांशविभेद को भिन्न २ कर के नहीं देख सके थे तब तक तो बिना देखे बिना समझे जो कुछ मानते चले आये सब क्षम्य माना जासकता था। पर अब जब कि हम एक तत्वकी असलियत को जान गये और उस के अंशांश रूप अच्छी तरह देख कर उस के गुण स्वभाव की परीक्षा कर सकते हैं तथा परीक्षा करने पर जब उनके मिश्रित घटकों के गुण स्वभाव में बड़ा अन्तर पाते हैं तो फिर उनको यदि एक कहें या एक मानें, कितनी अज्ञता है। प्रत्यक्ष दिखाया जासकता है कि ऊष्मजन का भार १६ है और समीरन का भार १४। ऊष्मजनमें सुलगती हुई सलाई जल उठती हैं समीरन में जलती हुई दियासलाई बुझ जाती है। इस तरह एक वायव्य दूसरे से विपरीत गुण धर्म रखता है फिर इन दोनों को एक कहे या एक मानें कहां की बुद्धिमता है कौन हम को समझदार कहेगा।

इस समय किसी समझदार व्यक्ति से पूछो कि तुम श्वास के साथ वायु को लेते हो या उसके किसी अंश को तो वह स्पष्ट कहेगा कि हम वायु के एक अंश को ग्रहण करते हैं वायु को नहीं। फिर इस वायु का शरीर से क्या सम्बन्ध।

पित्त का शरीर में निवास व कार्य व्यवहार— पित्त के सम्बन्ध में भी पीछे बतलाया जाचुका है कि यह यकृत में विद्यमान थैली से निकलने वाला एक प्रकार का पाचक रस है जिस की रचना यकृत के अवयव करते हैं।

इसका केवल शरीर में मुख्य काम स्नेही पदार्थों का पचाना है, तथा गौण कार्य रक्त कणों (रक्तावयवों) की रचना में

रक्तावयवों की सहायता करना, भुक्त अवशिष्ट भाग (जो मलाशय में होता है) में अयोग्य सन्धान होने से रोकता है। भोजन में इस पित्त की मात्रा न्यून हो या किसी प्राकृतिक विकार कारण से पित्त पूर्ण शक्ति युक्त न बने पतला या इसका कोई अंश न्यून होजाय तो जिस अश की न्यूनता होगी उसी अंश का कार्य व्यवहार अपूर्ण होगा।

यथा—यकृत में एक ऐसा रञ्जक रस बनता है जिसका काम यह है कि भुक्त परिपच्य लेही में मिलता रहे और उसके साथ जब आचूषण प्ररोहों से चूमा जाकर रक्त में पहुचा दिया जाय तो वहा उसकी विद्यमानता से रक्तावयव अपनी संख्या बढाने में पूर्ण समर्थ होजाते हैं। रक्तावयव उसको ग्रहणकर अपनी वशवृद्धि खूब करते हैं। इसी से शरीर में रक्त की मात्रा बढ़ जाती है। यदि यकृत के विकारी होजाने या किसी कारण इस की क्रिया बिगड़ जाने पर पित्त का यह रञ्जक भाग न बने तो रक्तावयवों की शरीर में संख्या घट जाती है। शरीर पोला दिखाई देने लगता है, कमजोरी अधिक बढ़ जाती है।

इसी प्रकार पाचक रूप, पित्त पतला बने पूर्ण शक्ति युक्त न हो तो स्नेही पदार्थ पूरे तौरपर नहीं पचते। अम्लीय रस के कारण पच्य लेही जो अम्ल रूप बन रही होती है उस मे पूर्णतया पित्त के न मिलने से उसका अम्लत्व दूर नहीं होता। क्योंकि पित्त का कार्य है कि अम्लीय पच्य लेही में मिलकर उसे क्षारीय बनावे। जब पच्य लेही का अम्लत्व दूर नहीं होता स्नेही भाग का स्नेह पूरे तौर पर कांदव (इमल्शन) नहीं बनता तो ऐसी दशा में

लेही परिपच्य रूप को ठीक तौर पर प्राप्त नहीं होती इस से उक्त लेही से अयोग्य सन्धान उठ खड़े होते हैं कई प्रकार के वायव्य जनित होते हैं बारम्बार अपान वायु से दुर्गन्ध जनित वायु सरती रहती है पेट में दर्द, अतिसार या मल द्रव रूप में उतरता है। मल का वर्ण श्वेत या विवर्ण (असली वर्ण का नहीं) उतरता है। यह पित्त ग्रहणी स्थल में भोजन से आकर मिलता है और मलाशय में आकर इसका अन्त होजाता है इस से आगे शरीर में कहीं भी इसका चिन्ह नहीं मिलता।

इस से भिन्न जो व्यक्ति यह कहते हैं कि 'पाचकं तिलमाण स्यात्' पाचक पित्त तिल प्रमाण अग्नि है और वह षष्टी पित्तधरा कला ग्रहणी में रहता है, वह व्यक्ति किसी प्रयोग शाला में पहुंच कर इस पित्त की शकल तो दिखावें जभी संसार मानेगा ; कोरी बातें बनानेसे कोई भी मानने वाला नहीं। जब ग्रहणी कला नामधारी चूल्हा शरीर में विद्यमान है उसका स्थान निश्चित है तिल प्रमाण अग्नि जो सदा उस में धधकती रहती है और सेरों अन्न को नित्य ही पचा डालती है क्या उसका स्वरूप नजर नहीं आवेगा ? तिल कोई अदृश्य आकार नहीं यदि अदृश्य भी हो तो भी सूक्ष्म वीक्षण यन्त्र लगाया जासकता है पर कोई दिखाने वाला तो निकले।

अजी ! जो चीज ही नहीं उसे दिखावे कौन ? ढूंढे कहां ? जिस तरह पाचक का हाल है वैसे ही भ्राजक आलोचक साधक पित्तों का हाल है। त्वचा में कोई पित्त नहीं रहता, न अभ्यंगादि दशा में तैलादि का पाचन करता है। शरीर में मालिश से तेल

का पचन पित्त की उपस्थिति से नहीं होता प्रत्युत मालिश करते समय त्वचा में स्थिति स्थापकत्व होता रहता है उस से त्वकस्थ अवयवों तथा रोम कूपो व प्रस्वेतवाही स्रोतो का मार्ग विस्तृत व संकुचित होता रहता है इसी से तैलांश त्वचा के खिचने के समय प्रसार से रंध्र मुख फैल जाते हैं और तेल भाग उस में प्रवेश कर जाता है और वहां से वह शिरा, धमनि जाल तक पहुँच जाता है, अर्थात् रक्तमे जा मिलता है। इस तरह स्नेह की शरीर में खपत किसी पित्त के कारण नही। आलोचक पित्त द्वारा भी देखने का व्यापार नही चलता। हम पीछे बतला चुके हैं कि देखने का व्यापार प्रकाश के प्रतिफलन का परिणाम है। और साधक पित्त से भी बुद्धि मेधा अभिमान आदि मानसिक शक्तियों का कोई सम्बंध नहीं। बुद्धि का संजनन मस्तिष्क में होता है मेधा का स्थान भी मस्तिष्क है। यही दोनों क्या समग्र मानसिक शक्तियों के उत्थान का स्थल मस्तिष्क है, इसी लिये इस प्रत्यक्ष कारण के आगे अब कोई और कल्पित कारण नहीं माना जासकता। हां मस्तिष्क को ही साधक नाम देदिया जाय तो कल्पना कुछ अंशों मे चाहे कुछ सही सिद्ध होजाय। रञ्जक पित्त के सम्बन्ध में ऊपर बता चुके हैं कि इसका भाग पित्त के साथ अवश्य होता है जिसे चाहे रंजक पित्त का नाम देदो या रञ्जक रस कहलो कोई इतना अन्तर नहीं पड़ता। यह है शरीर में पित्त की विद्यमानता का हाल। अब श्लेष्म की विद्यमानता व उसका कार्य व्यवहार भी देख लीजिये।

श्लेष्म का शरीर में निवास व कार्य व्यवहार

शास्त्र ने श्लेष्म भी पांच प्रकार का माना है। उस में अवलम्बक

श्लेष्म का स्थान हृदय बताया है। प्राण का स्थान भी हृदय माना है और साधक पित्त का स्थान भी हृदय माना है। हृदय है कि नूरमहल की सराय जिस में पता नहीं कि एक साथ या बारी २ उक्त दोष डेरा डालते हैं यदि एक साथ इनका डेरा पड़ता हो तो कोप कालमें बिचारे हृदयका क्या हाल बनता होगा। इधर वात जी कुपित हुए उधर पित्त जी जब इनके कोप से सारा शरीर कम्पायमान होता है तो हृदय बिचारे की क्या अवस्था होसकती है यह किसी कल्पना की सराय में खडे होकर पाठक देख सकते हैं। एक दूसरे के विपरीत धर्मी, विपरीत गुण वाले एक स्थान में सम्भव है एक कोठड़ी में ही रहते हों, कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि कल्पना के ही घोडे पर सवार होना है कौनसा कोई मर चला है। जीत गये तो वाह वाह हार गये तो कह देंगे कि भई कल्पना ही तो है।

वास्तव में रसायनिक दृष्टि से देखा जाय तो श्लेष्म एक प्रकार का असजिन है। हम पीछे बतला चुके हैं कि असाजिद अजीवनादि पदार्थ है उसी असजिद के कुछ रूप असजिन होते हैं जिन में से एक श्लेष्मासजिन भी है और इसका प्रजनन या श्लेष्म रूप श्लेष्मिक कला में आकर बनता है और उन्हीं कलाओं में इसका परिपाचन या सात्म्य रूप को प्राप्त होता है। यदि उक्त कला में प्रहर्षण हो या शोथ होजाय तो कला के अवयव प्रहर्षण व शोथज पदार्थों के कारण या किसी व्याधि जन्य जैव के कारण उस ओर उन को दूर करने, उन से अपने को बचाने में व्यग्र रहते हैं। अनेक नक्त समय मर भी जाते हैं इन्हीं कारणों से श्लेष्म का सात्म्यीकरण नहीं होपाता, वह रक्त से अवयवों में

छन कर आता है और कला के विकार पूर्ण होने पर छनता हुआ कला के बाहर आपहुंचता है। जिसको मांस पेशी की गति देकर बाहर निकाल दिया जाता है। यह कई बार खारा, नमकीन मीठा, देखा जाता है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार का रक्त में असजिन होगा वैसा ही इसका स्वरूप होगा। यदि रक्त के असजिन में क्षाराश की मात्रा अधिक है तो श्लेष्म भी खारा होगा। यदि रक्त में द्राक्षोज अम्लजिन अधिक होंगे तो श्लेष्म का स्वाद मीठा होगा। श्लेष्म का भिन्न २ स्वाद रक्तस्थ न्यूनाधिक पदार्थों की उपस्थिति का द्योतक है। जिस को हम रक्त के नाम से सम्बोधित करते हैं वह वास्तव में समग्र भुक्त रसों का एक बहुत पेचीदा मिश्रण होता है। रक्त को भुक्त रस का वह घोल कहना चाहिये जिस में अनेक उपयोगी अनुपयोगी पदार्थ घुले हुए होते हैं और उन में रक्ताणु, श्वेताणु, पीताणु आदि अनेक सजीव अवयव उसी तरह फिरते रहते हैं जैसे समुद्र में मछली कछुवे इत्यादि। इस रक्तीय घोल का नाम वास्तव में रक्त नहीं होना चाहिये क्योंकि यदि इस रक्तीय घोल को हम छान कर इसमें से रक्ताणु निकाल लें तो फिर इसका वर्ण रक्त नहीं रहता। यह घोल हलका दूधिया होजाता है जिस में रक्तकला, रक्तरस, जल अनेक लवण तथा लसीका या भुक्त रस का असूजिदीय भाग होता है, जिस को श्लेष्मकला अपने भीतर धारण करके अपनी रसायनिक कार्य शक्ति से श्लेष्म के रूप में ले आती है और इस को वह स्वत. अवयव की क्षय पूर्ति में व्यवहृत करती है तथा अवशेष रक्त में वापस चला जाता है। यह है श्लेष्म का स्वरूप और उस का कार्य व्यवहार।

इस से भिन्न न यह किसी व्याधि का कारण देखा जाता है न इसका किसी व्याधि से सम्बन्ध पाया जाता है जिसका हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे।

स्वस्थ मनुष्य के शरीर में श्लेष्म का आप को चिह्न तक न मिलेगा। हां अस्वास्थ्य दशा में यह नाक, मुंह, और गुदा योनि आदि मार्गों से निकलते देखा जाता है। यह क्यों बनता है ? और निकलता है ? इस को बहुत से वैद्य सही २ नहीं जानते इसी लिये, श्लेष्म प्रकोप के भ्रम में पड़े हैं। वास्तव में बात यह है कि हमारे अन्दर मुह से लेकर गुदा पर्यन्त अन्न प्रणाली, नाक से लेकर फुप्फुम पर्यन्त तक श्वास प्रणाली, योनि मुख से लेकर गर्भाशय तक, वृक्कों से लेकर मूत्र प्रणाली तक जितने भी पोले बडे २ मार्ग या प्रणालिया हैं उनके आन्तरिक भाग में एक प्रकार की कला या झिल्ली चढ़ी हुई होती है जिस को चतुर्थी श्लेष्मधरा कला कहते हैं। स्वास्थ्य दशा में यह कला रक्त में विद्यमान एक प्रकार के असजनीय नामक रस को ग्रहण कर सात्म्य रूप देती रहती है, जिस से उस के अवयवों की तथा आस पास के अवयवों की क्षति पूर्ति होती रहती है। यदि किसी बाह्य जान्तविक प्रभाव से या किसी असह्य पदार्थ के स्पर्श से उक्त कला का कोई भाग प्रदाहित होजाय या उस में प्रहर्षण (इरीटेशन) हो तो इस के कारण स्थान की श्लेष्म कला की सात्मीकरण क्रिया बिगड़ जाती या रुक जाती है। ऐसी अवस्था में जो संग्रहक कोषों द्वारा सान्द्रीय असजिन या लसिका रस वहां पहुंचता है वह सात्म्य रूप न होकर परित्याज्य होने लगता है। इसी लिये वह निकलता रहता है जिस को हम श्लेष्म कहते हैं। श्लेष्म का निकलना श्लेष्म कलाओं की विकृति का सूचक है।

श्लेष्म का निकलना श्लेष्मिक कला के विकार का परिणाम है न कि यह कोई शरीर का कारण भूत पदार्थ है। इस प्रकार शरीर के अंगों में पित्त कफ का और कोई स्थान नहीं मिलता।

दोषों का व्याधियों से सम्बन्ध

अब हम विवेचना करते २ ऐसे स्थल पर पहुचते हैं जहां वैद्य मनुष्य शरीर में प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष कारण को देख कर वात पित्त और श्लेष्म के होने का निश्चय कराता है। वह कारण क्या हैं जो वैद्यों को तथा रोगियों को दोषों के होने की सम्भावना कराते हैं अब हम उस पर विचार करेंगे।

व्याधि क्या है ?

कुपितानां हि दोषाणा शरीरे परि सर्पणात्।

यत्र संगः स्ववैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते॥

अर्थ—शरीरस्थ दोषों के कुपित होने पर यह दोष शारीरिक धातु मलों के साथ मिल कर जब गति शील होते हैं तो उन से व्याधिया होती हैं। **रोगस्तु दोष वैषम्यं** दोषों की विषमता रोग है।

इस तरह हर एक रोग में जो त्रिदोष की विषमता मानी गई है क्या इन्हीं दोषों के कारण ही विषमता होती है ? यह बात नहीं। कई रोग स्वभाविक भी माने गये हैं। जैसे क्षुधा पिपासा या तज्जन्य विकार कई रोग आगन्तुक होते हैं जैसे अकस्मात् चोट लग कर ज्वर चढ़ जाना। कई मानसिक रोग माने है— जैसे चिन्ता रहने से क्षय का होजाना। कई कई कर्मज रोग माने गये हैं जैसे कुष्ठ राजयक्ष्मा आदि। इन भिन्न २ रोगों के आ०

में चाहे कारण और हों पर इन में दोषों का कार्य अवश्य माना जाता है। यथा–

सकश्चित् कालमागन्तुः केवली भूत्वा पश्चात् दोषैरनुवध्यते ।

यह प्रथम आगन्तुक आदि व्याधियां शरीर में उत्पन्न होकर अकेली रहती हैं पर पुनः उन में पीछे से दोष आकर मिल जाते हैं।

चरक निदान अध्याय प्रथम

उक्त प्रमाण को पढ कर हर व्यक्ति के हृदय में यह संशय उत्पन्न होसकता है कि जब हर एक रोग का कारण प्रथम दोषों का कोप माना जाता है, प्रथम शरीर में दोष कुपित होते हैं तब रोग उत्पन्न होते हैं, बिना दोषों की विषमता के कभी रोग होते ही नहीं। यथा—

दोषेषु धातुषु मलेषु सत्सु सात्म्यं,
भवेदिदह नृणामसमेष्व सात्म्यं ।
यस्मादतः समतया प्रयतेत नित्यं,
एतच्चिकित्सित रहस्य मुदाहरन्ति ॥

दोष धातु मलादि में जब तक विषमता नहीं आती तब तक शरीर स्वय नीरोग बना रहता है। **दोषसात्म्यमरोग्यता** जिस समय इन में से किसी एक में- विषमता आती है तभी रोग होते हैं। इस लिये चिकित्सक का कर्तव्य है कि दोषों को सात्म्य रखने की चेष्टा करे। यही चिकित्सा का रहस्य है। इन दोष

धातु मलों इन तीनों में प्रधानता दोषों की ही है। उस में भी वात को यथा—

पित्तं पंगु कफः पंगु पंगवो मल धातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

पित्त, कफ, धातु तथा मलादि सारे पगु (बिना पैर के) हैं यह स्वतः एक स्थान से दूसरे स्थान तक नहीं जासकते इसी लिए वायु ही इन्हें अवोर्ध्व मार्गों की ओर ले जाता है जैसे बादलों को मेघ।

जब शरीर में वायु को प्रधान माना है बिना इसके पित्त श्लेष्म भी गति नहीं कर सकते तो आगन्तुक ज्वरों में जब कि चोट पैर में लगी हो, दर्द की व्यथा सिर में हो और ज्वर होजाय तब वात उस से आकर मिले और असात्म्य रूप को प्राप्त हो, यह कैसी मगति है। जब प्रधानता दोषों की हो और दोष शरीर के मुख घटकों में से हों तो यू क्यों न मान लिया जाय कि अभि-घात के समय मांस त्वचा अस्थि आदि पर जब चोट लगती है और उक्त धातुएं विदीर्ण होती हैं तो इन के साथ या इन में विद्यमान वातादि दोषों को भी जो शरीर के मूल कारण हैं आघात लगता है और वह घातित होकर क्रुद्धसिंह की तरह गर्जन करते हुए उठ खड़े होते हैं और उन के कोप से सहसा ज्वर हो जाता है इस प्रकार अच्छी से अच्छी कल्पना की जासकती है।

कई वैद्य झुंझला कर कह सकते हैं कि जिस शास्त्रीय बात पर देखो उसी पर कटाक्ष करते हो रोगों में तो बिल्कुल साफ साफ दोष दिखाई देते हैं। शास्त्र में ८० प्रकार के वात रोग

और ४० प्रकार के पित्त रोग तथा २० प्रकार के श्लेष्म रोग कहे हैं इन में से किसी भी रोग को लेलो सब के उक्त दोष स्पष्ट देखे जाते हैं। यथा—

(१) **आक्षेप**—शरीर में गति देना, अंगों का इतस्ततः सञ्चालन, शरीर की मांस, पेशियों के खिंचाव, यह सब वात जन्य हैं। बिना वायु के गति नहीं, आक्षेप में गतिकारी वात के चिन्ह स्पष्ट हैं। फिर किस तरह माना जाय कि इन में वात नहीं।

आक्षेप का कारण वात नहीं, न गति का कारण वात है। शरीर में दो प्रकार के स्नायु तन्तु पाये जाते हैं जिन का नाम ज्ञान तन्तु और कर्म तन्तु है ज्ञान तन्तुओं से तो हमें हर एक बात का बोध होता है क्रिया तन्तुओं से इच्छित व अनिच्छित दोनों प्रकार की शरीर में गतियां होती रहती हैं। जब इन कर्म वाहक तन्तुओं में प्रेरणा होती है और जिस अंग को प्रेरित किया जाता है उसकी मांस पेशियां क्रिया शील होती हैं। जब रोगोत्पादक कारण का या शरीरस्थ विषाक्त पदार्थ का प्रभाव इन कर्म तन्तुओं पर पड़ता है तो इनका व्यापार अव्यवस्थित होजाता है यह विषजनित प्रभाव से आघातित होकर विचलित होता है जिस से शरीर की मांस पेशियां आक्षेपित होती हैं न कि किसी वात द्वारा।

(२-३-४-५-६-७) हनुस्तम्भ, उरुस्तम्भ, कटिस्तम्भ, ग्रीवास्तम्भ, जिह्वास्तम्भ, खल्ली यह सब व्याधियां तो वात जन्य अवश्य हैं। हम कभी २ देखते हैं कि एक व्यक्ति को तीव्र वमन आती है जिस के प्रभाव से हनुस्तम्भ होजाता है। चलते २ नीचे

ऊपर पैर पडने से उरुस्तम्भ होजाता है। किसी ओर झुक कर वक्रगति से भार उठाने पर या बोझ लिये झटका लगने पर कटिस्तम्भ होजाता है रात्री को सोते २ गर्दन के नीचे ऊपर या वक्र होजाने पर ग्रीवास्तम्भ होजाता है। इन सबों में वायु ही होती है जो शरीर में विचरण करती हुई एकाएक रुक जाती है जिस से उक्त अग का स्तम्भ होता है।

अजी ! यह भी सही नहीं,हनुस्तम्भ उरुस्तम्भ, कटिस्तम्भ आदि के कष्ट का कारण मास पेशियों का एक दूसरे पर चढ जाना है वमन के समय जब हम मुंह खोलते है तो उस समय जबड़े की मांस पेशियों में तनाव होता है उस तनाव के समय यदि अकस्मात् वमन वेग का झटका लगे, वेग का तनाव होजाय तो मांस पेशी एक दूसरे के ऊपर चढ जाती हैं इसी से कइयों का मुंह खुला ही रह जाता है कइयों का मुंह बन्द होकर रह जाता है यह वात जन्य रोग नहीं।

इसी प्रकार बोझ की वक्र गति से कटि की एक मांसपेशी या दूसरी मासपेशी चढ़ जाती या नीचे उतर जाती है जिस से कटि स्तम्भ होकर रह जाती है। सोते समय ग्रीवा की मासपेशी भी एक दूसरे के ऊपर इसी तरह चढ़ जाती है जिन्हें क्रिया कुशल व्यक्ति मल कर या खींच कर ठीक कर देते हैं यदि यह वात जनित रोग होते तो मलाने से या खींच कर के भी ठीक नहीं किये जासकते थे। वायु को मल कर कभी नहीं दूर कर सकते।

(८–९-१० बाह्यायाम अन्तरायाम और धनु स्तम्भ)–शरीर का धनुषके आकार में बाहरको या भीतरको झुकना इसमें तो वात

जन्य शक्ति तो माननी ही पड़ेगी क्योंकि शरीर को प्रबलता से खींचना और धनुषाकार झुका देना यह बिना किसी प्रबल शक्ति के नहीं होसकता। धनु. स्तम्भ वाले रोगियो को देखा है कि उन का शरीर इतनी जोर से खिंचता है कि उसको बडे से बड़ा बल-वान् व्यक्ति भी नहीं रोक सकता, न शरीर को पूर्वावस्था में ला सकता है। वात में ही इतनी बलवान् शक्ति है, किसी और मे नहीं।

उक्त व्याधि भी वात जन्य नहीं। धनु स्तम्भ एक जैवी व्याधि है अर्थात् यह कीटाणु जन्य रोग है और जिस आदमी के शरीर में चाहे उस के शरीर में इन कीटाणुओं को प्रवेश कराकर उस के शरीर में उक्त व्याधि उत्पन्न कर सकते हैं। इस रोग के जैव प्राय. त्वचा के द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं, अक्सर फोड़ा फुन्सी या क्षत स्थान से इनका प्रवेश शरीर में होता है। जब यह रक्त में पहुच जाते हैं तो वहा बढते हुए एक प्रकार का विष उत्पन्न करते हैं जिसका नाम निशंगी है। निशंगी विष का जितना प्रबल प्रभाव स्नायु मडल पर होता है इतना शायद ही कहीं होता है।

इस विष का प्रभाव कुचले के विष से मिलता है जिस समय इस का वेग शरीर मे बढता है तो स्नायु तन्तु कठिन होजाते हैं तथा उन में प्रबल आक्षेप होता है। जब स्नायु तन्तु का लचक-पन घट जाय कठोरता आजाय उस अवस्था में आक्षेप के कारण कम्प कम होता है केवल आकर्ष होता है। इस आकर्ष की गति कभी पृष्ठ की ओर कभी छाती की ओर देखी जाती है। जब छाती की ओर हाथ पैरों का झुकाव हो तो उसे अन्तरायाम,बाहर

पृष्ट की ओर झुकाव हो तो उसे बाह्यायाम कहते हैं इस तरह एक धानुः स्तम्भ की यह दो गतियां हैं न कि भिन्न २ रोग।

(११) पार्श्वशूल—यच्छा देखिये जब अकस्मात् पसली में शूल उठता है तो उस समय श्वास लेना कठिन होता है यह तो वायु के रुक जाने का स्पष्ट परिणाम है। वायु रुक कर जब विशुणित होती है तभी इस तरह का शूल उठता है विना वायु कोप के इस प्रकार शूल उत्पन्न नहीं होता।

अजी ! यह पार्श्वशूल भी वात जन्य नहीं। पार्श्वशूल तो फुप्फुस सा वरक में प्रदाह होने पर ही होता है और प्राय: फुप्फुस प्रदाह से पूर्व इसका चिन्ह प्रकट होता है यह भी जैवी व्याधि है, न कि वात जन्य।

(१२-१३-१४-१५) अर्दित, पक्षाघात, पंगुता, कलायखंज—यह व्याधिया तो अवश्य ही वात जनित हैं क्योंकि यदि यह व्याधिया वात जनित न होतीं तो कभी भी योगराज गुग्गुल व नारायण तेल से लाभ न होता। पर नहीं हम इन से काफी लाभ उठाते हैं इस लिये निश्चित मानना पड़ता है कि यह वात जन्य रोग हैं।

यह भी वात जन्य व्याधि नहीं अर्दित, पक्षाघात, आदि अंग वध व्याधियों का कारण शरीर के किसी स्नायु शिखा का मारा जाना है। यह अंग वध का कष्ट उस समय होता है जब किसी कारण से रक्त चाप बढ जाय और उस दबाव के कारण मस्तिष्क या उपमस्तिष्क के रक्तवाही धमनी तन्तु फट जाय और उस का रक्त स्रव कर मस्तिष्क उपमस्तिष्क पर थके तो उस के

जिस भाग से सम्बन्धित स्नायु तन्तु होंगे, प्रायः वह मारे जायेंगे। यदि मस्तिष्क उपमस्तिष्क के अर्ध भाग पर रक्त का संचय हो जाय तो अर्धांग, यदि केवल मुख ग्रीवा के स्नायु तन्तु केन्द्र पर ही संचय हो तो अर्दित, इसी प्रकार पगुता, कलायखज आदि रोग होते हैं।

मस्तिष्क से चल कर मेरु दण्ड के बीच होकर सुषुम्ना नाडी रहती है इस में से स्नायु के ३१ जोडे निकलते हैं इन्हीं जोडों के सञ्चालक सुषुम्ना में रहते हैं कई बार सुषुम्ना के किसी विकार या अभिघात से भी अंगवध होजाता है। यह अगवध किसी प्रकार भी वात जन्य रोग नहीं। हम ने यहा पर दृष्टान्त के रूप में कुछ थोडे से वात जन्य रोगोंकी मीमासा की है जिस तरह इन रोगों में और २ कारण हैं, उसी प्रकार बाकी के वात रोगो में भिन्न २ कारण हैं जिस का यहां पर व्याख्या करने लगें तो इस के लिये एक भिन्न ग्रन्थ जितना स्थान चाहिये।

४० पित्त के रोग

४० प्रकार के जो पित्त जन्य रोग कहे हैं वास्तव मे देखा जाय तो यह एक भी पित्त जनित रोग नहीं। प्रत्युत भिन्न २ रोगों के लक्षण हैं। यथा—

(१) धूमोद्गार (डकार में धुवा निकलना) यह विकार अम्ल पित्त रोग में जब कि पित्त भोजन काल मे वायु के बाहर होते समय आमाशय में आजाता है उस समय पित्त के कण वाष्प में निकलते हैं जिसे धूमोद्गार कहते हैं।

(२) दाह—दाह का कारण भी शरीर में मात्रा से अधिक

उत्ताप का संजनन होना और बना रहना है या रक्त में उष्मिजनन क्रिया का अधिक होना है जिस से शरीर का उत्ताप बढ़ा रहता है। अथवा किसी अंग के अवयव में ऐसे विकारी पदार्थों का संचित होजाना, जो उत्ताप जनक हों तभी दाह होता है।

(३) शरीर का उष्ण बना रहना—शरीर की उष्णता जब मात्रा से अधिक होगी तभी उसकी ज्वर संज्ञा होगी। उष्णता ज्वर से भिन्न रोग नहीं। यह पित्त जन्य है।

(४) मतिभ्रम—बुद्धि का ठीक अवस्था में न रहना मनो-विभ्रम होजाना, यह रोग पित्त जन्य नहीं। हां कभी २ देखा जाता है कि अधिक ज्वर वृद्धि से भी मतिभ्रम होजाता है। कभी २ किसी रोग का लक्षण होता है कभी २ स्वतन्त्र रोग रूप में भी देखा जाता है। इस रोग के होने का कारण चिन्ता, शोक, उत्ताप जनित प्रभाव है, न कि पित्त।

(५) कांति हानि—शरीर की कान्ति का नष्ट होना भी कोई रोग नहीं बल्कि कई रोगों की स्थिति का परिणाम है जब शरीर में कोई रोग बना रहे या रक्त में विकारी प्रभाव विद्यमान रहें रक्त शुद्ध न हो तो शरीर की कान्ति जाती रहती है। यकृत् शोथ प्लीहा शोथ रोगों की भी कान्ति जाती रहती है रक्त की न्यूनता से भी कान्ति नष्ट हो जाती है। जब शरीर में कोई रोग न हो रक्त शुद्ध हो, अच्छा भोजन पान हो शरीर अपने आप ही कान्ति युक्त होजाता है यह भी पित्त जन्य नहीं।

(६) कंठ शोथ—मुख शोथ, गले का सूखना मुंह का सूखना, तृषा का लगना भी रोग नहीं कई रोगों का चिन्ह हैं,

यथा—मधुमेह, तीव्र ज्वर आदि अधिक परिश्रम, ऋतुजन्य उत्ताप के बढने से भी कण्ठ शुष्क होजाता है यह पित्त जन्य रोग नहीं माना जासकता ।

(८) **अल्प शुक्रता**--वीर्य का कम होजाना, या उत्पन्न न होना यह विकार वृषण या वीर्य ग्रन्थि से सम्बन्ध रखता है यदि वृषण ग्रन्थि किसी रोग से ग्रसित होकर विकारी होजाय । जैसे उपदंश सुजाकादि में देखा जाता है तो वीर्य की रचना नहीं होती या न्यून होती है । यह भी कोई रोग नहीं और रोगों का वृषण ग्रन्थि पर होने वाला परिणाम है ।

(९, १०) **तिक्तास्यता, अम्ल वक्त्रता**—यह भी पित्त जन्य या स्वतन्त्र रोग नहीं रोग का चिन्ह है कहां तक गिनावें जितने भी पित्त जन्य रोग माने गये हैं वास्तव में एक भी न तो रोग है न पित्त जन्य माने जासक्ते हैं ।

इसी तरह २० प्रकार के श्लेष्म जनित रोगों का हाल है । जितने भी श्लेष्म जनित रोग बताये गये हैं वह सब के सब भिन्न २ रोगों के लक्षण मात्र है । यथा–

शरीर का भारीपन होना, ज्वर होने के पूर्व का चिन्ह है, मुह का मीठा होना, श्लेष्मकला में श्लेष्म स्थिति का परिणाम है या रक्त में शर्करी पदार्थों के बढने का चिन्ह है । मुख का लिप्त होना, मुख की श्लेष्मकला के शोथ का परिणाम है श्वेत मल का आना, स्नेही पदार्थों में पित्त के न मिलने का परिणाम है । श्वेत मूत्र का आना मूत्र में माडी के आने की सूचना है । या रक्त में किसी ऐसी अन्नजिन तत्व की वृद्धि का चिन्ह है जिस

की शरीर को आवश्यकता नहीं। शरीर का श्वेत वर्ण होना रक्त की कमी का परिणाम है। शीतोष्णेच्छा ज्वर का पूर्व रूप है तिक्त वस्तुओं के खाने की इच्छा स्वभाविक प्रकृति परिणाम है या आदत का चिन्ह है मल का अधिक उतरना, मल संचय का चिन्ह है। शुक्र की वृद्धि वीर्य ग्रन्थियों की स्वल्पता का द्योतक है। कई व्यक्तियों की वीर्य ग्रन्थिया बहुत बडी होती हैं उन में वीर्य की मात्रा स्वभावत. अधिक बनती है। बहुमूत्रता मधुमेह होने का या दूषित जलीय भाग के शरीर में बढे रहनेका चिन्ह है। कहा तक गिनावें इन में से एक भी कहे हुए श्लेष्म रोग सिद्ध नहीं होते। इस से भिन्न २ मुख्य २ रोगों की ओर आइये इन में से प्रथम ज्वर को ही ले लीजिये किसी भी ज्वर में इन दोषों की तलाश करें तो आप को एक भी दोष ढूढे नहीं मिलेगा। शास्त्र कहता है कि—

मिथ्याहार विहाराभ्यां दोषाह्यामाशयाश्रया: ।
वाहिर्निरस्य कोष्टाग्निं ज्वरदा: स्यु रसानुगा: ॥

मिथ्या अयोग्य आहार देशकाल प्रकृति विरुद्ध भोजन मिथ्या विहार या अधिक अनौचित्य विहार से दोष कुपित होजाते हैं इसी से वह दोष कोप को प्राप्त होकर आमाशयाश्रय रसोई घर को विगाड कर रसाश्रित कोष्ठाग्नि को बाहर फैंक देते हैं तब ज्वर उत्पन्न होता है। इसमें कोई संशय नहीं कि 'अजीर्ण न ज्वरं स्यात्‌ः' भोजन का ठीक २ न पचना ज्वरका कारण है और साधारण ज्वर प्रायः उदर के विकार के पश्चात ही होते भी देखे जाते हैं। पर इस उदर विकृति से दोषों का क्या सम्बन्ध? जब दोष

है ही नहीं तो शरीर में दोषों का आना और जाना क्या ? दूसरे उदर में अग्नि कहा है जिसे दोष निकाल कर बाहर कर देते हैं ? यह तो कोई वैद्य बताने की कृपा करें ? मेरी समझ में तो नहीं आता कि जब ज्वर की निरुक्ति ज्वरयति रुजयति संताप-यति करते हैं ज्वर सतापे या ज्वावयोहानौ' धातु से वरप्रत्या लगा कर ज्वर को सिद्ध करते हैं तो न जाने किस तरह इसकी त्रिदोष से सगति जोडने की चेष्टा करते तथा उदर की अग्नि को बाहर निकालने की सगति मिलाते हैं।

ज्वर वास्तव में एक उत्ताप की बढ़ी हुई अवस्था का नाम है तो फिर कोष्टाग्नि का बाहर फेंकना या निकालना क्या ? यह कहीं कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की भ्रष्ट होजाने वाली रसोई तो नहीं। जिसकी अग्नि भी अपवित्र होजाती है और चूल्हे से उठाकर बाहर फेंक दी जाती है। जो इस से आगे वात ज्वर, पित्त ज्वर, श्लेष्म ज्वर आदि के जो लक्षण दिये हैं क्या यह सब कल्पना मात्र हैं यदि ऐसा है तो निश्चित लक्षणों वाले ज्वर में वात ज्वर नाशक औषध का लाभ क्यों देखा जाता है ? हम इस का उत्तर पीछे दे चुके हैं। वास्तव में वात ज्वर, पित्त ज्वर कहने से अभिप्राय एक निश्चित लक्षण युक्त ज्वर से है और यह एक सकेत मात्र है जो ज्वर के समय देख कर अग विकृति विकारी कारणों का पता लगता है और यह ज्ञान होजाता है कि इस ज्वर के होने में अमुक कारण है. और बात कुछ नहीं।

रहा औषध लाभ का—आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति कोई नई नहीं कि किसी निश्चित लक्षण वाले रोगों के लिये औषध

ढूंढनी पड़े प्रत्युत हमारी चिकित्सा पद्धति अति प्राचीन होने से इतनी समुन्नत होचुकी है कि एक निश्चित लक्षण वाले रोगों (ज्वरों) के लिये एक निश्चित औषध ही नहीं प्रत्युत निश्चित योगावली मालूम कर ली गई है इसी लिये उन निश्चित लक्षण युक्त रोग को देख कर औषध देदें, अवश्य लाभ होता है। इस में किसी दोष को जानने न जानने की बात ही नहीं आती।

इस समय तो रोग के कारण इतने सुस्पष्ट हैं कि इस पर अब तर्कना करने का स्थान ही नहीं रह जाता प्रत्यक्षतया दो कारण हमारे-सामने है एक साधारण दूसरा विशेष। साधारण कारणों में उदर विकृति (कुपाच्य) ऋतु प्रभाव अगन्तुक आदि कारण माने जाते हैं विशेष कारणों में स्पष्टतया जैवी (जीवाणु कीटाणु) कारण देखे जारहे हैं। जितने भी बड़े श्वास, क्षय, उपदंश, फुफ्फुस प्रदाहादि रोग हैं सब इन्हीं जैवी कारणों से होते हैं ऐसी निश्चिति होचुकी है तो फिर इन में नतुनच की आवश्यकता ही क्या ?

त्रिदोष स्थापना में प्रधान कारण

कई व्यक्ति पूछ सकते हैं कि यदि त्रिदोष का न तो शरीर से कोई सम्बन्ध है न व्याधियों से न खाद्यपेय पदार्थों से तो इन की निश्चिति में कारण क्या ? इतना बड़ा सिद्धान्तिक कारण किस प्रकार बन गया यह एक महत्व का प्रश्न सामने आता है अब हम इस पर कुछ विचार करेंगे।

हारीत, भेल, चरक आदि संहिताओं में जिन व्याधियों का वर्णन आया है जो उन के लक्षण दिये गये हैं उन के समय को

अनेक व्याधियां इस समयभी यथावत् लक्षणोंमें देखी जाती हैं जैसे विषम ज्वर, कार्कोटक-सन्निपात (न्यूमोनिया) श्वास, कास, क्षय, आमवात, वातरक्त, अतिसार, अजीर्ण, विशूचिकादि। इन व्याधियोंके रूप तथा शास्त्र वर्णित रूपकी तुलना करने पर हम यह निस्सकोच कह सकते हैं कि आजसे कई हजार वर्ष पूर्व व्याधियोंका जो रूप--जो चिन्ह था वह बहुत कुछ आजभी देखा जाता है। इन व्याधियोमें कुछ बातें ऐसी थीं जो त्रिदोष स्थापन में मुख्य कारण हुई। हम उनको उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे।

अजीर्ण—अजीर्ण या अपच एक ऐसा साधारण विकार है कि मनुष्योंमें ही नहीं–यह पशु पक्षियों तकमें देखा जाता है। किसीभी कारणसे भोजन अधिक मात्रामें खालिया जाय, कुपाच्य होजायगा। कुपाच्यमें सर्व प्रथम छर्दि होना, खट्टे दाह युक्त उद्गार उठना, पेटमें गुड़ २ शब्द होकर आध्मान होजाना या अतिसार लगना, अधोवायु (अपान वायु) का बारम्बार निर्गत होना, तृषा लगना यह लक्षण किसीमें न्यून किसीमें अधिक देखे जाते हैं। इसका कारण—

प्रायेणाहार वैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम् ।

अर्थ–प्रायः मनुष्योंमें आहारकी विषमतासे अजीर्ण रोग होता है, यह प्रमाण पूर्ण बातहै। इस एक साधारण विकारमें उद्गारका आना, आनाह, आध्मानका होना, पेटमें शूलकी व्यथा उठना, बारम्बार अधोवायुका निकलना यह ऐसी बातें थीं जो वायुके होनेकी सम्भावना उत्पन्न कराती थीं। उस समय कोई यान्त्रिक कसौटी तो थी नहीं, जिस पर वह परखते कि यह किस

प्रकारका वायव्य है, प्रत्युत उस समय सिवाय इस एक वायुके दूसरे किसी और वायव्यके होनेका गुमान तक न था। यदि कोई कहेतो प्रमाणोंसे सिद्ध करे—कि अमुक वायव्य इससे भिन्न थे और उनका गुण स्वभाव यह था।

कई व्यक्ति कहते हैं कि किसी २ ग्रन्थमें ४९ पवनोंका जिकर आया है, यह सब भिन्न २ वायव्य थे। यह बात नहीं। कुछ पुराणोंने इसी वायुके जिसमें हम सब श्वास लेते हैं, देशभेद स्थान भेद से ४९ प्रकार मान लिये हैं, न कि किसी और वायव्य के, जिनका वर्णन देना वृथा निबन्धको बढाना है।

गुल्म—किसी व्यक्तिके प्रतिबन्ध शुद्ध होने पर स्पर्शसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उदरमें ग्रन्थिके रूपमें अवश्य ही कोई वायु रूप धारी पदार्थ फिर रहा है; या है। इसी प्रकार आध्मान या आनाह रोग स्वतन्त्रहो या परतन्त्र इसमेंभी वायु तद्वत् रूपधारी किसी वायव्य की उपस्थिति पाई जाती है। पेटका नगाड़े सा तन जाना, पेट में गड़गड़ाहट होना और अन्तमें वायुका निर्गत होना या विलीन होना यह कारण ऐसे थे जो उदरमें वायुके होने की पूर्ण सम्भावना सिद्ध करते थे। इससे भिन्न चरक, सुश्रुतजीके समय मस्तिष्क और उपमस्तिष्कके कार्य तथा उनसे सम्बन्धित स्नायु मंडल की क्रियाओंका भी पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका था। शरीरमें ज्ञान-तंतु और कर्म-तन्तुओंकाभी ठीक २ पता नहीं चला था। इसीलिये शरीर में ज्ञान या बोधका होना मन व बुद्धिके आश्रित विश्वास किया जाता था, तथा शरीरमें गति चेष्टाओंके होनेमें वायु को कारण माना जाता था। पर इस समय जब कि बोध तन्तुओंको सचेष्ट

निश्चेष्ठ करके उनकी स्थितिको स्पष्ट बतलाया जा सकता है तथा इसी तरह स्नायु मण्डलके ३१ जोड़ों में से किसी भी एक को काटकर शरीरके उक्त निश्चित विभागका कार्य व्यवहार बन्द करके दिखाया जा सकता है। जब यह बात है, तो फिर इन्हें वायवोद्भूत कर्म किस तरह माना जाय।

इसी प्रकार पूर्व कालमें गर्भसे बालक किसकी प्रेरणा व गतिके कारण बाहर आता था इसका पूर्ण ज्ञान न था। प्रसूतकाल में स्पष्ट देखा जाता है कि जब गर्भकाल पूर्ण होने पर आता हैतो गर्भाशयमें सकोच प्रसारकी क्रिया किसी वायुके द्वारा नहीं होती, न इस निर्जीव वायुमें इस जीवन युक्त व्यापारको चलानेका कोई सम्बन्ध पाया जाताहै। प्रत्युत गर्भकाल पूरा होनेपर गर्भाशयकी मास पेशियोंमें विशेष परिवर्तन आताहै और वहांके मर्म तन्तु विशेष क्रिया शील हो धकूस्थलको विशेष क्रियावान् बताते हैं और धकूस्थल का मुख द्वार धीरे २ सकोच प्रसारके पश्चात् खुल जाता है और उक्त गतिकी प्रबलतासे बालक बाहर आने लगता है। इस क्रिया में वायुको किस तरह कारण माना जा सकता है।

पूर्वकालमें जब कि इसके यथार्थ कारणका ज्ञान न हो पाया था उस समय इसको—

प्रसूते मारुत योगात् परिवृत्यावाकछिरो निष्का-मत्यपत्यपथेन।

अर्थ—वायुके योगसे आवृत गर्भ सिर नीचा कर लेता है और अपत्य मार्गसे बाहर निकल आता है, ऐसा निश्चय किया था; जिसको कोई अब इस रूपमें माननेके लिए तैयार नहीं। इस

तरह वातकी स्थिति स्थापनमें प्रधान कारण हमारा अपूर्ण ज्ञान रहा है। शरीरकी क्रियाओंमें और रोगोंके समय वायव्य रूपधारी पदार्थोंके रूपको समझनेमें असमर्थ रहनेके कारण ही गुल्म, अध्मान, चलित पीड़ा, उद्गार, अधःनिस्सरणमें निकलने वाली वायुको हम साधारण वायु मान बैठे। वास्तवमें देखा जाय तो इसमें पूर्व पुरुषोंका कोई दोष नहीं। जितने कुछ उनके पास अनुसन्धानके साधन थे उन्हींसे या कल्पनासे इसे उन्होंने जाना था। पूर्वकालमें किसी व्यक्तिको इस बातका गुमान भी नहीं हो सका था कि वायु जैसे रूपधारी अनेकों वायव्य हो सकते हैं और वह सब भी इसी वायुमें मिलकर या इसके साथ २ रह सकते हैं। इसीलिये उक्त तमाम रोगोंमें एक वायुही कारण है ऐसा निश्चय करना पड़ा। क्योंकि आजसे साठ सत्तर वर्ष पूर्व जब कि और वायव्योंका आविष्कार नहीं हुआ था सिवाय इस एक वायुके और किसी कारणका स्वप्नमें भी भ्रम नहीं हो पाया था।

इससे भिन्न दर्शन शास्त्र भी हमको इस परिणामकी ओर ले जा चुके थे कि वायु जगत्के मूल कारणोंमें से है। इस के आंशिक रूपसे शरीरका बनना और शरीरमें रहना भी एक निश्चित बात मानी गई थी। ऐसी दशामें कोई कारण ऐसा नहीं था जो रोगोंमें इसको कारण माननेमें बाधक होता। यही मुख्यतया प्राचीन समयमें ऐसे कारण थे जिन्होंने शरीरमें वात दोषकी स्थापनामें सहायता की।

पित्त दोषकी स्थापनामें कारण।

इसी तरह जब हम पित्तकी स्थापनापर विचार करते हैं तो इतिहाससे पता चलता है कि इसकी कल्पनामें प्रधान कारण विषम ज्वर, (मलेरिया) या शीत ज्वर, या अजीर्ण, विशूचिकादि रोग रहे हैं। प्राचीनसे प्राचीन ग्रन्थोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि हमारे देशमें यह व्याधियां बहुत ही जीर्णकालसे होती चली आई हैं। शीत ज्वर या विषमज्वर प्रति वर्ष वर्सातके अन्तमें ही होता था। आज भी वर्षान्तमें ही होता है। इस ज्वरके आवर्त कालमें प्रायः वमन होता है और वमनमें अवश्य ही पित्त पात होता है, इसके साथ या पश्चात् ज्वर बढ़ता है। उत्तापाधिक्यताके कारण तृषा, व्याकुलता, मतिभ्रम, प्रलाप आदि उपद्रव भी अवश्य ही प्रादुर्भूत होजाते हैं। इससे भिन्न जब उदर विकारमें वैद्य वमन, विरेचन देते थे उसमें भी कई वार पित्तपात होता था। इससे भिन्न हृद्दाह,धूमोद्गार, तृषा आदिके उपद्रव देखे जातेथे, विशूचिकामें भी वमन, तृषा, व्याकुलतादिके जो उपद्रव देखे जाते थे यह सब शरीरमें कोई विशेष दाहशील वाला पदार्थ रहताहै इसको सिद्ध करते थे। इससे भिन्न पूर्वकालमें पञ्च कर्मोका अधिक प्रचार था, शरीरके शोधनार्थ वमन,विरेचन देनेकी प्रथा अधिक थी। उस समय वमन करानेमें भी पित्त निकलते देखा जाता था। एक तो पित्तका स्वस्थावस्थामें निकलने देखा जाना, फिर रोगोंके समय निकलते दिखाई देना और पित्तका शरीरकी ऊष्मासे अधिक सम्बन्ध मिलना तथा तृषा, व्याकुलतादिका पित्तके साथ होना, ऊष्मा (गर्मी) का शरीरमें बढ़ना। यह बातें एक ओर तो दार्शनिक पक्षसे ऊष्मा या अग्नि तत्वकी उपस्थिति शरीरमें सिद्धकर

प्रधान कारण थी। दूसरे इसके साथ ऊष्माके गुणोंका पित्तमें आरोपित करनेका अच्छा अनुमानिक साधन था। इन्हीं बातों को देख कर तथा दर्शन शास्त्रकी सम्मति पाकर वैद्यो ने पित्तको दोष मान लिया। जिस समय पित्तको शरीरमें अग्निके गुणोंका एक रूप या अग्निका प्रतिनिधि माना गया था। उस समय सिवाय इस एकके कोई और कारण न तो सामने था, न कल्पनामें आता था। इसी लिये आत्रेयसे लेकर सारेके सारे वैद्यों ने इसी को आंख मींचकर स्वीकार कर लिया। इस तरह पित्त दोषकी स्थापना हुई। उक्त कारणको अति संक्षेपमें बताया गया है। क्योंकि इसकी पुष्टिके लिये इस समय तक जो चेष्टा होती चली आ रही है वह सबकी सब उदाहरण के लिये पेश की जा सकती हैं। जिनमें अब एकभी पित्त के दोष रूप कारणको सिद्ध नहीं कर सकतीं।

श्लेष्म दोष की स्थापना में कारण

ठीक जो कारण पित्तमें दिखाये गयेहैं तत् समीपी कारण श्लेष्म दोषको स्थापन करनेमें सहायक हुए हैं। हम उनमें से दो चारको उदाहरण स्वरूप रक्खेंगे।

प्रतिश्याय, श्वास, कास, संग्रहणी, प्रवाहिका, सचारीज्वर (सन्निपात) आदि नई व्याधियां नहीं। यह वैद्योंकी उत्पत्तिके पूर्व की हैं और पशुओं तकमें देखी जाती हैं। इनसे भिन्न वृद्धावस्था भी एक ऐसी अवस्था है जिसमें आकर अनेक व्यक्ति श्वास,कास रोगसे ग्रसित होजाते हैं। बहुधा वह व्यक्ति जो कोई अमल (मादक वस्तु) सेवन करते हैं उन्हें उक्त श्वास, कास

अतिसार आदिमें प्राय: श्लेष्म पात होता रहता है। इसी प्रकार तीव्र रेचनमें भी श्लेष्मपात होते देखा जाता है। यह श्लेष्म गाढा, श्वेत पीत अनेक रूपमें देखा जाताहै। यह श्लेष्म शरीर म कहासे आता है? क्यों आता है? इसको हमारे चिकित्सक अच्छी तरह नहीं समझ सके थे। इसीलिए उदरको आमाशय या श्लेष्मा-शयका मुख्य स्थान निश्चित किया। यह मुहसे, नाकसे, गुदासे स्त्रियोंके योनि मार्गसे जाता देखा गया। अनेक वार निरोग व्यक्तिको रेचन कराने पर भी यह रेचनमें पतित होते पाया गया, इसे देख वैद्योंने निश्चित किया कि श्लेष्म शरीरमें सदा विद्य-मान रहने वाला अवश्य ही तात्विक पदार्थ है। इससे भिन्न दर्शन शास्त्रोंने जल तत्वकी स्थिति पहिले ही शरीरमें सिद्ध की हुई थी। श्लेष्ममें सोमके गुणोंका आभास भी होता था और शरीरमें प्रत्यक्ष उपस्थिति भी देखी जाती थी, इसी आधार पर श्लेष्मका जलसे सम्बन्ध माननेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं दिखाई दी। स्वयम् जलके गुण व स्वभाव श्लेष्ममें घटते थे, इससे भिन्न और कोई कारण भी सामने नहीं था। इसीलिए कई त्रुटियां होने पर भी इसको पूर्वकालमें दोषरूप मान लिया गया। इस तरह पर उस समय त्रिदोष-वादकी स्थापना हुई। जिसकी स्पष्ट साक्षी चरक संहिता है।

चरक संहिताको पढनेसे यह बात निर्भ्रम हो जाती है कि त्रिदोष-वादका जन्म दर्शन वादके बहुत पश्चात् हुआ। वास्तव में दर्शन-वाद ही त्रिदोष-वादके स्थापनमें मुख्य कारण कहा जा सकता है। क्योंकि, त्रिदोषकी कल्पनामें तीन तत्वोंका हाथ

हैं। अर्थात् वायु, अग्नि और जल यह त्रिदोषके स्तम्भ हैं। जिनके सहारे इनको शरीरमें तथा अनेक पदार्थोंके आश्रित माना गया है। जिसको वार्योविंदजीने वायुकी व्याख्यामें बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है। इसी तरह मरीचि ऋषिने—अग्निमें पित्तकी व्याख्यामें और कश्यप ऋषिने जलसे श्लेष्मकी व्याख्या में स्पष्ट दिखा दिया है।

चरकके इस १२वें अध्यायका अनुशीलन करनेसे, वात पित्त और कफ किन २ तत्वोंके आधार पर खड़े किये गये हैं यह स्पष्ट हो जाता है। इस तरह जो त्रिदोष स्थापनमें मुख्य कारण रोगोद्भूत चिन्ह थे, वह अब चिन्ह ही माने जा सकते हैं, दोष नहीं।

इसके पश्चात् अब दोषोंसे औषधियोंके सम्बन्धका स्थल आता है। दोष सिद्धान्तको पुष्ट करने वाली औषध गुण धर्म प्रक्रिया प्रायोगिक बात मानी जाती है और इसी की सफलता पर वैद्य त्रिदोषकी दृढ़ नींव को जमी हुई मानते हैं। अनेक वैद्योंका विश्वास है कि चिकित्सा क्रममें जो हमें सफलता मिलती है वह त्रिदोष-वादकी सच्चाईका दृढ़ प्रमाण है। त्रिदोषकी सच्चाईको जाननेका इससे अच्छा और क्या प्रमाण हो सकता है। इसीलिए अब हम इस विषय पर भी कुछ विचार रखना चाहते हैं।

औषधियों से दोषों का सम्बन्ध।

अब हम एक ऐसे विषयकी ओर आते हैं जो केवल कल्पनाका विषय ही नहीं; प्रत्युत उससे हमारे निजी अनुभवका अधिक

सम्बन्ध है। आहारीय द्रव्य दाल, चावल, गेहूं, आलू आदि तथा अनेक भेषज स्वरूप द्रव्य त्रिकुटा, त्रिफलादि हमारे नैतिक जीवनकी आवश्यक सामग्रियोंमें से हैं। आहारीय द्रव्योंका उपयोग तो दिनमें कई वार होता है, पर भेषज स्वरूप द्रव्योंकी वारी भी कभी न कभी आती ही रहती है। कभी २ रोगा- वस्थामें तो इन्हें महीनों खाना पडता है। जहां तक हम देखते हैं मानव प्राणी इन दोनों में से किसीको भी छोडकर अपने जीवनका निर्वाह नहीं कर सकता। एक वार मनुष्य औषध के बिना तो रह सकता है, पर खाद्य सामग्रीके बिना जीवन-यापन कठिन हो जाता है। कई खाद्य, पेय द्रव्य ऐसे भी हैं जो उदरकी पूर्ति भी करते हैं दूसरी ओर व्याधियोंके शामक भी हैं। हमें औषध तुल्य द्रव्योंका ज्ञान कैसे हुआ ? इसकी खोज की जाय तो पता लगता है कि जिन २ वनस्पतियोंको हम उदर पूर्तिके अर्थ खाद्य द्रव्य समझ कर खाते रहे हैं, उन्हें जब किसी रोग विशेष के समय खाद्य समझ कर खाते गये उस अज्ञात दशामें जिसके परिणाम स्वरूप रोगमें कमी आई, शरीर स्व- स्थता लाभ करने लगा। इसतरह जो व्यापक कार्य हमने उक्त खाद्य द्रव्यका अपने ऊपर लिया, यही दूसरे व्यक्तिके ऊपर देखा, तब हमें इस बातका अनुभव हुआ कि यह द्रव्य रोगकी इस दशामें उपयोगी है। यहां से द्रव्योपयोगके ज्ञान का विकास हुआ। इसतरहके द्रव्योपयोगका ज्ञान अन्य-प्राणियोंको भी है। पालतू पहाडी मैनाको युवावस्था आने पर कण्ठमें एक कांटे वाली व्याधि होती है, जिससे प्रायः उक्त मैना मर जाती है। पर वनमें

वह किसी वनस्पतिको खाकर इस संकटसे बच जाती है। कहते हैं, कि हाथीको भी इसी प्रकारकी व्याधि एकवार युवावस्था आने पर होती है, जिससे पालतू हाथी प्रायः मर जाते हैं। पर वनमें वह अपनी चिकित्सा स्वयम् कर लेते हैं। बन्दर, गोरीला, चिपाञ्जी आदि तो रोगावस्थामें कई विशेष २ वनस्पतियां खाकर अपनेको रोग रहित करते देखे गये हैं। इससे स्पष्ट होजाता है, कि हमने विशेष २ वनस्पतियोंमें रोग निवारण की शक्तिका ज्ञान उनको खा कर ही जाना। इसी प्रकार यदि विचार कर देखा जाय तो शरीरकी क्षय पूर्तिके अर्थ सेवन किये जाने वाले खाद्य, द्रव्य और शरीरके रुग्ण होने पर सेवन किए जाने वाले औषध स्वरूप द्रव्योंमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं। दोनों ही अपनी २ जगह शरीर साधनार्थ हैं।

यही नहीं, प्रत्युत इस समय कई खाद्य प्रधान ऐसे द्रव्यभी देखे जाते हैं जो एक ओर शरीरकी क्षय पूर्ति व वृद्धिमें काम देते हैं दूसरी ओर वह व्याधियोंका शमन करनेमें भी समर्थ हैं। जिसका अनुभव अनेक चिकित्सा निपुण व्यक्तियों को है। इसी अनुभव पर हम देखते हैं कि कई चिकित्सक रोगावस्थामें कोई औषध विशेष न देकर—पथ्य द्वारा ही रोगोंका शमन करदेते हैं। यह खाद्य द्रव्य या औषध रूप द्रव्य रोगोंको कैसे शमन कर देते हैं? इस पर, हम प्रथम शास्त्रीय विचार रखकर पुनः विवेचना करेंगे। शास्त्र कहता है कि भिन्न २ रोगों व दोषोंको शमन करनेकी शक्ति द्रव्याश्रितरसोंमें है।

जितनेभी ससारमें खाद्योपयोगी पदार्थ हैं या हमने उन्हें

कृत्रिम विधिसे खाद्यपयोगी बना लिया है या औषधोपयोगी है, उन सबोंमें एक रस या दो रस मिश्रित कई रसोंकी प्रधानता होती है। जिन द्रव्योंमें जिस रसकी प्रधानता होती है उन रसोंकी शक्तिसे या प्रभावसे असात्म्यदोष साम्यावस्थामें आजाते हैं।

जिस तरह पंचभूतोंसे शरीरमें तीन दोष उत्पन्न होते हैं, पांचभूतोंसे इसीतरह द्रव्योंमें षट्रसों को उत्पत्ति होती है। यथा—

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभावाः प्रकृति शीता लघ्वश्च अव्यक्त रसाश्च तास्त्वन्तरिक्षाद्भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पंच महाभूत गुण समन्विता जंगम स्थावराणां भूतानां मूर्तिरभि प्रीणयन्ति कासु मूर्त्तिषु षडभिः मूर्च्छन्ति रसः

चरक सं०

अत्रेय जी कहते हैं—अन्तरिक्ष जल स्वभावसे सौम्य, शीतल हलका होता है। और वह अव्यक्त रस अर्थात्—इसमें ऐसे समय कोईभी रस प्रकट नहीं दीखता। पर, जब यह पृथ्वी पर गिरता है तो यहां आकर पंचभूतों के गुणोंसे मिलजाता है, तभी इस पंचभूतात्मक जगत्में मूर्त्तवान् द्रव्योंके आश्रित हो षट् रसों के रूपमें प्रकट होता है। वह छः प्रकारका है, यथा—मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय। यह षट् रसोंमें से कौन २ रस किन २ महाभूतोंसे प्रदुर्भूत होते हैं, इसके सम्बन्धमें अत्रेय जी कहते हैं—

तेषां षण्णां रसानां सोम गुणातिरेकात्मधुरो रसः पृथिव्याग्नि भूयिष्ठादम्लः सलिलाग्नि भूयिष्ठाल्लवणो

वाय्वाग्नि भूयिष्ठत्वात्कटुको वाय्वाकाशातिरेकात्तिक्तः पवन पृथिव्यातिरेकात् कषायः । एवमेषां रसानां षड्त्वमुत्पन्नम् । चरक सं०

अर्थ—इन छहों रसोंमें मधुर रस जलीय गुणों की अधिकतासे उत्पन्न होता है, अम्लरस पृथ्वी और आग्नेय गुणोंकी अधिकतासे उत्पन्न होता है, लवणरस जलीय और आग्नेय गुणोंकी अधिकतासे उत्पन्न होता है; कटुरस वायु और आग्नेय गुणोंकी अधिकतासे उत्पन्न होता है, तिक्तरस वायु और आकाशीय गुणोंकी अधिकता से उत्पन्न होता है; कषायरस वायु और पार्थवीय गुणोंकी अधिकतासें उत्पन्न होता है ।

जितनीभी स्थावर, जंगम, चर, अचर सृष्टि है सबको हमारे शास्त्र पचभूनात्मक मानते चले आये हैं । जिस तरह मानवी शरीर में पचभूतोद्भून त्रिदोष स्फुटरूपसे मानेजाते हैं, इसी तरह यह षट्रस द्रव्योंमें है। क्योंकि दोषों का स्वरूपतो हमें किसीभी स्थावर, जगम द्रव्योंमें दिखाई नहीं देता । न वातके स्वरूप का प्रगट पता लगता है, न पित्तके रूपका किसीमें कोई चिन्ह मिलता है, न श्लेष्मके होनेका किसी तरह भान होता है; ऐसी दशामें कोईभी खाद्य, पेय द्रव्य शरीरस्थ आमात्म्य दोषोंको किस तरह सात्म्य रूप कर देते हैं ? यह गहन प्रश्न प्राचीन वैद्यों के सामने जब २ आया, इसका समाधान उन्होंने षट्रसों के द्वारा निम्न लिखित रीतिसे किया । यथा—

कटुतिक्त कषायश्च कोपयन्ति समीरणः ।

कट्वम्ल लवणाःपित्तं स्वाद्वम्ल लवणाः कफम् ॥

अर्थ-कटु, तिक्त, कषाय-रस प्रधान द्रव्योंके सेवनसे वायुका कोप होता है। कटु, अम्ल, लवण रसप्रधान द्रव्योंके सेवनसे पित्तका कोप होता है। इसी तरह मधुर, अम्ल, लवण रसप्रधान द्रव्योंके सेवन से श्लेष्मका कोप होता है।

कुछ चिकित्सकोंका मत है कि—

द्वयं द्वयं वात कफ प्रकोपनं द्वयं तथा पित्त करं वदन्ति।
क्षारः कषायः पवन प्रकोपी मधुरोऽथ तिक्तःकफ कोपनश्च

अर्थ-दो २ रस एक २ दोषको कुपित करते है, यथा—क्षार (लवण) और कषायरस वायुको, मधुर और तिक्तरस श्लेष्मको कटु और अम्लरस पित्तको। इसी प्रकार—

स्वाद्वम्ल लवणान् वाते तिक्त स्वादु कषायकान्।
पित्ते कफे तिक्त कटु कषायान् योजयेद्रसान् ॥

अर्थ-मधुर, अम्ल, लवण रसके सेवनसे वातका शमन होता है। तिक्त, मधुर, कषायरसके सेवनसे पित्तका शमन होता हैं। तिक्त, कटु कषाय रसके सेवनसे श्लेष्मका शमन होता है।

एक पद्य कहता है—

कट्वम्लको वात समौप्रदिष्टौ पित्तस्यनाशी मधुरःसतिक्तः
कटु कषायः शमनः कफश्च।

अर्थ-कटु, अम्लरसका सेवन वातका शमन करता है। मधुर, तिक्त

रसका सेवन पितका शमन करता है। कटु, कषाय रसका सेवन श्लेष्मका शमन करता है।

उक्त सिद्धान्तसे ज्ञात होता है कि शास्त्रकारोंने मनुष्य शरीर में जिस तरह पंचभूतोंसे त्रिदोषकी स्थितिको कारण माना, उसी तरह द्रव्योंमें दूसरी ओर पंचभूतोंसे षट्रसोंकी स्थितिका निश्चय किया। और जिसतरह एक दोष दूसरेके विपरीत शामक है, उसी तरह एके रसभी दूसरे रसका शामक माना। उधर पंचभूतोद्भूत जिसतरह त्रिदोष हैं, उसीतरह द्रव्योंमें पचभूतोद्भूत षट्रस हैं। दोषतीन हैं, रस ६ हैं। इसीलिय उन्होंने यह जाननेकी चेष्टा की कि कौन २ से रस वातज हैं और कौन २ पित्तज व श्लेष्मज। यद्यपि इस सिद्धान्तकी नींव अनुमानकी सिकतामय भूमिपर धरी गई थी, इसीलिये कोईभी चिकित्सक इसको प्रत्यक्ष बोध न करासका, न कोई स्थिर सिद्धान्त ही बना सका। इसीलिये कुछ चिकित्सकोंने तीन २ रस एक २ दोषके कोपकारी व शामक निश्चित किये, कुछ चिकित्सकोंने दो २ रस एक २ दोषके कोपकारी व शमन कारी माने। तथा—

> *समीरेण तुनो देया कटुतिक्त कषायकाः।*
> *पित्तं कट्वम्ल लवणाः स्वाद्वम्ल लवणाः कफे॥*

अर्थ—वात जब कुपितहो रहाहो तो कटु, तिक्त, कषाय रस प्रधान द्रव्य नहीं देने चाहियें। पित्त कुपित रहाहो तो कटु, अम्ल, लवण रस प्रधान द्रव्य नहीं देने चाहिये। उपरोक्त प्रमाणोंसे तथा वैद्योंकी व्यवहारिक चिकित्सा-पद्धतिसे स्पष्ठ है कि जिसतह इनतीन

दोषोंका स्थान शास्त्रकारोंने शरीरमाना है, उसी तरह इन तीन दोष प्रतिरूप द्रव्योंमें षट् रस माने हैं। इसीलिये कटु तिक्त कषायरसको वातका; कटु, अम्ल लवण रसको पित्तका तथा मधुर अम्ल लवणरसको श्लेष्मका प्रतिनिधि सत्तात्मकरूप निश्चय किया। कोई २ कहते हैं कि लवण कषाय रस वातके, कटु अम्लरस पित्तके तथा मधुर तिक्त श्लेष्मके प्रतिनिधि सत्तात्मक रूप हैं। खैर, कुछ हो, उक्त कथनसे स्पष्ट है कि ससारमें जितनेभी द्रव्य है जिनमें किसी तरहका स्वाद आता है तो निश्चय जानोकि इनका किसीन किसी दोषमे अवश्य सम्बन्ध है। यदि वह कटु हो, तो निश्चय करोकि यह वात रूप है, यदि खट्टाहो तो निश्चय करलोकि यह पित्त रूप है। यदि मधुर है तो विश्वास करोकि यह श्लेशमरूप है। यदि मिश्रितरसोंका स्वाद आता है तो मिश्रित दोषोंका इन्हें प्रतिनिधि समझो। इस तरह आयुर्वेदमें षट्रसोंकी प्रधानताको लेकर दोषोंके प्रकोप शमनकी निघटुओंमें सारणी दीगई है। उक्त शास्त्रीय विवेचनके अनुसार व्याधियोंके मूल कारण त्रिदोष जिसतरह शरीरमें मुख्य स्थान रखतेहैं, इसी तरह द्रव्योंमें षट्रसका होना चाहिये। परन्तु ग्रन्थोंके अनुशीलनसे यह सिद्धान्त रूपमें नहीं, प्रत्युत अपवाद रूपमें दिखाई देता। जब एक ओर यह माना जाता है कि "दोष सात्म्यमरोग्यता" दोषोंका समरूपमें आना ही आरोग्यता है और उस समताको लानेके लिये दोष शामक रसोंका उपयोग ही काफी है, यदि वात प्रधान व्याधि है तो उससमय वात जन्य रसको छोडकर कोई और रस प्रधान द्रव्य देने पर या वात नाशी प्रधान द्रव्य देने पर वातरोगका शमनहो सकता

है। इसमें किसी विशेष गुण युक्त द्रव्योंको माननेकी आवश्यकता नहीं, न प्रभावको देखनेकी ही जरूरत है। क्योंकि इधर रोगोंके प्रधान कारण दोष हुए और उनकी असात्म्यावस्था-रसोंके द्वारा ठीक होने वाली—नैरोग्यता है जो उन्हींके प्रतिरूप या प्रतिनिधि रूप षट्रसोंसे शरीरमें आ सकती है। फिर किसी द्रव्यमें गुण, प्रभाव को देखनेकी आवश्यकता क्या? पर नहीं, हम इसके विपरीत रसोंके ऊपर दोषोंको सात्म्य रूपमें लाने वाली वीर्य और प्रभाव नामक दो और महती शक्तियोंका उल्लेख पाते हैं, व ऐसे समय यह शंका खड़ी हो जाती है कि दोषोंको सात्म्यरूपमें लानेका कार्य केवल रस ही करते हैं या गुण प्रभाव भी? यदि दोषोंको सात्म्यरूपमें लानेमें वीर्य और प्रभावका हाथ है, तो हमें यह देखना पड़ेगा कि इनका रसोंके साथ क्या सम्बन्ध है? इसीलिए अब हम रससे लेकर वीर्य-विपाक और प्रभावका संक्षिप्त वर्णन देंगे कि यह क्या है? और इनका रसोंसे क्या सम्बन्ध है!

रस क्या है?

सबसे पूर्व हमें यह देखना है कि रस क्या वस्तु है? इनका रसायनिक रूप क्या है? और यह द्रव्योंमें कहांसे आते हैं? तथा शरीर या शरीरस्थ व्याधियोंसे इनका कहां तक सम्बन्ध है।

रस क्या है—इसके सम्बन्धमें शास्त्र कहता है—

"रसो निपाते द्रव्याणां"

जिह्वाके ऊपर डालनेसे द्रव्योंका जो स्वाद आता है उसका नाम रस है। अर्थात् किस द्रव्यमें क्या रस है—इस बातको हम न तो स्पर्शसे जान सकते हैं न चक्षुओंसे देखकर। हमारे सामने

कोई शुद्ध फिटकरी, सुहागा, खांड, टाटरी और निमकको पीसकर रखदें तो बिना जिह्वा पर रक्खे हम उसे देखकर या स्पर्श करके नहीं बता सकते, कि इसमें कौन सा रस है। जिह्वा या रसनेन्द्रिय ही हमारे पास एक ऐसा साधन है जिससे हम रसों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। फिटकरी कसैली है, सुहागा खारी है, खाड मीठी है, इस प्रकारके भिन्न २ स्वाद जो हमें प्रतीत होते हैं इन स्वादोंका नाम रस है। उस तरह तो स्वाद अनेक देखे जाते हैं, पर शास्त्रोंने स्वादरसको "षट् विध."—मधुर अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय—छः प्रकारका माना है। किसी २ ग्रन्थकारने खारको सातवा रस भी माना है। अब, प्रश्न यह है कि यह रस या स्वादका सम्वेदन जो हमें जिह्वा द्वारा होता है वह पदार्थके जीभपर रखनेसे ही होता है, या यह कोई रसायनिक क्रियाका परिणाम है। हमारे ग्रन्थकर्त्ता तो यही कहते है कि पदार्थों का जिह्वापर स्पर्श ही स्वादका कारण है। पर, प्रयोगोंसे यह सिद्ध नहीं होता। कोईभी पदार्थ शुष्क अवस्थामें हों, अनुघुलहों—या उन्हें मुंहके जलमें घुलने न दिया जाय जैसे निमक, खाड आदि, तो यह जबतक जलमें न घुलें, या जिह्वा पर पडकर मुखके द्रवीयभागमें मिलकर घोलरूपको न प्राप्त हों, तबतक जिह्वाको इनका स्पर्श कोई स्वाद नहीं देता। जो वस्तुऐं जलमें या मुखमें नहीं घुलतीं—जैसे सोना, चांदी आदि—साधारणतया उनमें किसी प्रकारका स्वाद नहीं पाया जाता। स्वादकी सम्विदना प्रकट होनेके लिये यह आवश्यक है कि उक्त द्रव्यकी कुछ न कुछ मात्रा जलमें घुलन शील हो। मिश्रीकी डली जबआप मुहमें रखते हैं तो जिह्वा उसे मुहमें

इधर उधर फिराती है उस अवस्थामें मुँहकी लाला उसमें स्वयम् मिल कर उसे घोलती रहती है, जैसे २ मिश्री घुलती जाती है, वैसे २ मीठेपनका विशेष आनन्द आता जाता है। मिश्रीके घुलने पर इसतरह विशेष आनन्द आनेका कारण क्या? पाठकोंको ज्ञातरहे कि उसतरह तो जिह्वाभी एक मासका टुकड़ा है। परन्तु, इस जिह्वाके विशेषकर अग्रभाग तथा किनारों पर कुछ ऐसे बोधतन्तु पाये जाते हैं जिनपर घुलित दशामें द्रव्योंके स्पर्शका जो सम्वेदन सम्बन्ध होता है, उसको हम स्वाद या रस कहते हैं। परीक्षाओंसे पता लगा है कि प्रायः जिह्वाके भिन्न २ भाग भिन्न २ रसोंको सम्वेदन उत्पन्न करते हैं। अधिकतर मधुरता और अम्लताका सम्वेदनतो जिह्वाग्रके बोधतन्तुमें होता है और कटु तथा निमकीन स्वादका सम्वेदन जिह्वाके मूल व अधोभागके बोधतन्तुमें होता है। यदिकोई अम्लद्रव्य या मधुर पदार्थ जिह्वाग्रपर बिना स्पर्श कराये—जिह्वा मूल पर रखकर निगला जाय, तो बहुधा उसकी अम्लता या मधुरताका हमें बोध तबतक नहीं होता, जबतक स्वाद सम्वेदनतन्तुओंकोस्पर्श न करे, स्वाद सम्वेदनकेलिये यह आवश्यक है कि जिह्वाके उक्त स्वाद सम्वेदक अकुरोंसे पदार्थोंके घोलका स्पर्श कराया जाय। जिस समय कोई स्वाद विशिष्ट घोल उक्त बोधक तन्तुओंमे स्पर्श करता है उससमय उस घोल पर बोधाअंकुरोंकी वैद्युतिक रसायनिक क्रिया होती है, जिससे हमें स्वादका अनुभव होता है। जैसे जैसे उक्त अकुरों द्वारा उक्त घोलपर वैद्युतिक रसायनी क्रिया होतीजाती है वैसे वैसे हमें उक्त स्वाद में विशेष आनन्द आता है, और उस समय हमें स्वादका पूर्ण अनुभव होता

है। परन्तु, किसी रोग के कारण यदि उक्त बोध तन्तुओं में कोई विकार आजाय या उक्त बोधांकुर नष्ट कर दिये जाय तो हमें स्वादका कोई अनुभव नहीं होता। कई व्यक्ति आपको ऐसे भी मिले होंगे जिन्हें मधुरता या कटुतादि रसोंका यातो बहुत कम बोध होता है, या तो होता ही नहीं। कइयों के अम्ल बोधक तन्तु इतने निर्बल होते हैं कि तीव्र से तीव्र अम्ल भी उन्हें मामूली अम्ल ही प्रतीत होते हैं। इस में प्रधान कारण उक्त स्वाद सम्वेदक अकुरों का या तो विकारी होना है या उन की क्रिया शक्ति में बहुत कुछ शिथिलता का आना है। इस से भिन्न प्रत्येक व्यक्ति में भी रस या स्वाद सम्वेदन एक सा नहीं होता। जिस पक्व दाल, शाक में हम निमक ठीक कहते हैं, उसी को दूसरा न्यून और तीसरा अधिक बताता है। किसी को एक गिलास जल में २॥ तोला मीठा ठीक लगता है, किसी को ५ तोला मीठा भी कम लगता है। इस से भिन्न हमारा ही रस सम्वेदन ज्ञान सदा एक सा नहीं रहता। गुड़ या शर्करा खा लेने के पश्चात् मीठा फल भी फीका लगता है। निमकीन वस्तुएं खाने पर साधारण मीठी वस्तुए अधिक मीठी लगती हैं, और यह तो सारे वैद्य जानते हैं कि गुडमार बूटी खा लेने पर गुड जैसी मीठी वस्तु भी फीकी या स्वाद रहित होजाती है। क्या ऐसी दशा में माना जा सकता है कि गुड़ ने अपनी मधुरता त्याग दी ? हरगिज नहीं।

मानवी शरीर पर जब से विद्युत यन्त्रों का उपयोग होने लग पड़ा है, कुछमनोविज्ञान वेत्ताओं ने पञ्च ज्ञानेन्द्रिय

सम्बन्धी सम्वेदनाओं की परिक्षा लेने के अर्थ इस पर विद्युत धारा का प्रयोग किया, जिसका परिणाम बहुत अच्छा मिला है। एक व्यक्तिमें धाराका स्पर्श जिह्वांकुरोंसे कराया गया, दूसरे व्यक्तिके आंखसे, तीसरेके नासासे, चौथेके कानसे कराया गया, इस प्रकार विद्युत धारा प्रवाहके कारण जिह्वाने कटुताका अनुभव किया, नेत्रोंने विशेष प्रकाशका अनुभव किया। नासिका ने एक विशेष प्रकारके गन्धका अनुभव किया। श्रवण ने सूक्ष्म शब्द बोध किया। इस तरह अनेक विधि से परीक्षा लेने के पश्चात् मनोविज्ञान वेत्ता इस परिणाम पर पहुंचे हैं, कि हमारी मानसिक शक्तियां वास्तवमें एक प्रकार की वैद्युतिक शक्ति का ही एक रूप है, जिसको हम जीवनीय वैद्युतिक शक्ति कह सकते हैं। इसी जीवनीय विद्युत् के द्वारा हमें शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध का सम्वेदन होता है। खैर, कुछ हो परीक्षाओं से तो यह अवश्य ही सिद्ध है कि रस सम्वेदना या स्वाद का अनुभव में आना बोध तन्तुओं से युक्त उस मानसिक शक्ति का परिणाम है; जो जिह्वा पर आये हुए रस-रूप द्रव्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि षट् रस या स्वाद कोई स्वतन्त्र सत्तात्मक वस्तु नहीं। प्रत्युत, द्रव्यों का घुलित दशा में जिह्वा के साथ स्पर्श का परिणाम है। यदि हम अपनी जिह्वा पर रबड़ का खोल चढ़ा लें और फिर भोजन किया करें तो हमें किसी भी रस का ज्ञान नहीं हो सकता। पेट में जाकर उक्त रस मय पदार्थ से हम रसों का कोई बोध नहीं पा सकते। इस प्रकार रसों का सम्बन्ध हमारी जिह्वा तक ही सीमित रहता

है, आगे नहीं जाता। अब रहा यह, कि द्रव्यों में रसों की उत्पत्ति जो पञ्चभूतों द्वारा मानी है, यह कहा तक ठीक है? अनुसन्धान करने पर इसमें कौन २ से तत्व पाये जाते हैं? और उनका रसायनिक संगठन क्या है? अब, हम इस पर कुछ विचार करेंगे।

रसों का रसायनिक संगठन

आत्रेय जी कहते है—द्रव्यों में मधुर रसका संगठन जलीय गुणों की अधिकतासे है। अम्ल रसका पृथिवी और आग्नेय गुणों की अधिकता से है। लवण रसका जलीय और आग्नेय गुणों की अधिकतासे है। कटु रसका वायु और आग्नेय गुणोंकी अधिकता से है। तिक्त रसका वायु और आकाशीय गुणोंकी अधिकतासे है। कषाय रसका द्रव्योंमें संगठन वायु और पार्थिवीय गुणों की अधिकता से है। इस प्रकार षट्रसों का शास्त्रीय रसायनिक संगठन बताया गयाहै। परन्तु, जैसा कि हम पीछे बतला आये हैं—आधुनिक गवेषणाओंसे उक्त महाभूत ही तत्व सिद्ध नहीं होते, तब भला उनसे या उनके गुणोंसे उद्भूत रसों की क्या किसी तरह सिद्ध होने की सम्भावना है? हरगिज नहीं। तो फिर, इन का रसायनिक सगठन क्या है? हम, इसका आधुनिक रसायनिक विश्लेषण विधि से जो अनुसन्धान हुआ है, कुछ विवेचन देते हैं।

रस भेद—हमारे यहां तो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय नाम से षट रस माने गये हैं। परन्तु, मनोविज्ञान वेत्ता कहते हैं कि यह षट रस नहीं। प्रत्युत मधुर, अम्ल, लवण और कटु

यह चार रस हैं। कुछ व्यक्ति क्षार और धातवीय दो और मिला कर छः मानते हैं। जिह्वाको तिक्तता से कोई रसकी सम्वेदना नहीं होती। प्रत्युत यह पदार्थों के स्पर्श का एक गुण है। जो पदार्थ तिक्त या चरपरे होते हैं, वह चाहे जिह्वा पर लगाये जाय या त्वचाके किसी और भाग पर उनके चरपरेपनका प्रभाव(प्रदहन)प्रत्येक स्थान पर एक सा ही होता है। जो अन्तर पड़ता है वह त्वचाकी मृदुता कठोरता का है। इसी तरह, वानस्पतिक कषाय रस भी रस संवेदक नहीं। प्रत्युत यह भी त्वचा पर प्रहर्षक और सकोचक प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जिससे जिह्वा ही नहीं-त्वचाका प्रत्येक भाग संकुचित होता या ऐंठता है। कषाय के त्वचा पर स्पर्श से एक प्रकार का रसायनिक परिवर्तन होता है, जिससे त्वचा प्रभावित हो उठती है। जिस को हम भूल कर रस का सम्वेदन या स्वाद कहते हैं। वास्तव में यह हमारे अनुभव की एक बड़ी भूल है। हां धातुओंके जिह्वा पर संघर्षसे कभी २ एक विशेष प्रकार के स्वादका अनुभव होता है। भिन्न धातुओं द्वारा कभी २ कुछ भिन्नता से एक रस विशेष का अनुभव भी आने लगता है, कई वैज्ञानिक इस तरह के धातवीय स्वाद को एक प्रकार की वैद्युतिक प्रक्रिया का परिणाम बतलाते हैं। खैर, कुछ हो अभी तक तो इसको भी एक रस माना जाता है।

हम पीछे बतला चुके है कि सृष्टि के मूल कारण पांच तत्व नहीं, प्रत्युत ९२ प्रकार के भिन्न२ तत्व हैं। जिनमें से सृष्टि रचना में प्रायः १२-१४ तत्व ही काम आये हैं। इन तत्वों में से जिन२ तत्वों द्वारा रसोंका संगठन हुआ है,उसका हम क्रमसे वर्णन करेंगे।

पूर्वकाल में चिकित्सकों को जिन २ रस विशिष्ट द्रव्यों का बोध हुआ था, वह उस समय दो वर्ग के देखे जाते थे। (१) पार्थिव वर्ग, (२) उद्भिद् वर्ग। पार्थिव वर्ग में निमक, क्षार व धातवीय रस थे। उद्भिद वर्ग में मधुर, अम्ल कटु रस थे। परन्तु इस समय पार्थिव वर्ग में गन्धकाम्ल, शोरकाम्ल, स्फुरिकाम्ल, सेकरीन आदि अनेक एसे भी रसमय द्रव्य निर्माण किये गये हैं, जिनका पूर्वकाल में चिन्ह तक नहीं मिलता था। कई व्यक्ति कहेंगे कि शखद्राव जैसे खानिजाम्ल प्राचीन समय में भी पाये जाते हैं। वास्तव में शंखद्राव जैसे द्रव्य प्राचीन नहीं, प्रत्युत चिकित्सा-पद्धति के प्रचलित समय से बहुत पीछे के हैं। पहिले समय में मधुरता चाहे इक्षु रस की हो, चाहे द्राक्षा की, खर्जूर की या किसी और फल की, या शहद की, इनमें कोई भेद नहीं माना जाता था। कोई भी मधुरता मीठा स्वाद रखने के कारण मधुर रस प्रधान ही कहलाती थी। परन्तु, आधुनिक समय में अनुसन्धान से ज्ञात होता है कि भिन्न २ फलों की मधुरता ही भिन्न नहीं, प्रत्युत एक दूसरे से यह रसायनिक सगठन मेंभी भिन्नता रखती है। यथा-इक्षोज, द्राक्षोज यवोज, फलोज, दुग्धोज

मधुररस और उसका रसायनिक रूप।

अंगूर, गन्ना, सेब, नासपाती, केला आदि फल खाने पर मीठे लगते हैं। इस मधुरताका कारण यह है कि इन फलोंमें विद्यमान किसी न किसी शर्कराके कणोंकी विद्यमानता होती है। इन शर्करा कणोंके ही कारण फल हमें मीठे लगते हैं। पर आप

देखते हैं कि प्रत्येक प्रकारके फल एक जैसे मीठे नहीं होते, इसका प्रधान कारण यह है-कि इन सब फलोंमें शर्कराओंके कणोंका सगठन एक जैसे रूपमें नहीं होता । भिन्न २ फलोंमें या शर्करोद्भव पदार्थोंमें इसका सगठन भिन्न २ देखा जाता है। इसीलिए, इनकी मधुरताकी मात्रामें अन्तर पाया जाता है । पर इनका मूल रसायनिक सूत्र एक है। अर्थात् कोई भी शर्करा हो उसमें कज्जल, उदजन और ऊष्मजन तीन ही मुख्य तत्व पाये जाते है, जिनका रसायनिक सूत्र $क_{६}$ $उ_{१२}$ $ऊ_{६}$ है । इस रसायनिक सूत्रके साथ सदा यह नियम भी लगा देखा जाता है। कि इन शर्कराओंमें कज्जलके साथ जितने ऊष्मजनके परमाणु होते हैं, ठीक उससे दुगने उदजनके परमाणु पाये जाते हैं। इसमें न्यूनाधिकता नहीं होती । इसका स्पष्ट अर्थ यह है —कुछ कज्जल तत्वके परमाणुओंके साथ जलके कुछ अणु संयुक्त हो जाते है, तब शर्कराका संगठन होता है । वास्तवमें कज्जल या कोयलेके साथ उदजन और ऊष्मजन नामक वायव्य तत्वोंके परमाणुओंका रसायनिक सगठन होने पर शर्कराके कण बनते हैं। इन तीन तत्वोंसे भिन्न और कोई भी तत्व शर्करा कणके उत्पादक कारण नहीं । कज्जलके साथ इस प्रकार उदजन और ऊष्मजन के संयोगसे जितने पदार्थ बनते हैं, उनको रसायन शास्त्रमें कज्जलोदेत कहते हैं। यह जितने भी कज्जलोदेत हैं, इनको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है । प्रथम श्रेणीमें वह कज्जलो-देत हैं जिनका स्वाद मधुर (मीठा) होता है, जिनके स्फटकी करण विधि द्वारा कण बन सकते हों । जिनको एक शर्करोज कहते

हैं। दूसरी श्रेणीमें वह कज्जलोदेत हैं, जो स्वादमें फीके होते हैं और उनके स्फटकीकरण द्वारा कण नहीं बनाये जा सकते। वह बहु शर्करोज कहाते हैं। प्रथम श्रेणीके कज्जलोदेत जो मीठे होते हैं, उनको भी दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है। इसका कारण यह है कि इनमें उक्त मूलतत्त्वके परमाणु एक श्रेणीसे दूसरेमें द्विगुण होते हैं। इसीलिए प्रथमको एक शर्करोज और दूसरेका द्विशर्करोज कहते हैं। एक शर्करोजमें कज्जलके परमाणुओं की संख्या पांच या छः पाई जाती है और द्वि शर्करोजोंमें इनकी संख्या द्विगुण होती है। यथा—

एक शर्करोजका संगठन

कउ$_2$ ऊउ	कउ$_2$ ऊउ
|	|
कउ ऊउ	कउ ऊउ
|	|
कउ ऊउ	कउ ऊउ
|	|
कउ ऊउ	कउ ऊउ
|	|
कउ ऊउ	कऊ
|	|
कउ ऊ	कउ$_2$ ऊउ
द्राक्ष शर्करा या द्राक्षोज	फल शर्करा या फलोज

द्वि शर्करोज का सङ्गठन।
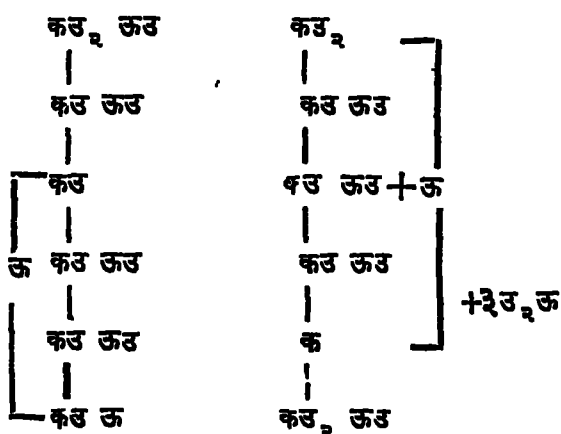
इक्षु शर्करा या इक्षोज

द्राक्षाकी शर्करा और फलकी शर्कराके अणुओंमें यद्यपि कज्जल के छः उदजनके १२ और ऊष्मजनके छः परमाणु मिलते हैं। पर इन दोनोंके रसायनिक संगठन भिन्न २ हैं। इसीलिए इन दोनोंके असली रसायनिक सूत्र $क_६ उ_{१२} ऊ_६$ ही है। पर इक्षु शर्कराका रसायनिक सूत्र $क_{१२} उ_{२२} ऊ_{१२}$ है। इसमें ३ जलके भी अणु पाये जाते हैं जो इसके स्फटकी करणमें विद्यमान रहते हैं, पर रसायनिक संगठनके साथ संयुक्त नहीं होते। जिस प्रकार गन्नेकी शक्कर द्विशर्करोज है इसी प्रकार दुग्धोज और यवोजभी इसी भांतिकी द्विशर्करोज हैं। परन्तु उनका रसायनिक संगठन इक्षु शर्करासे भिन्न होता है। इसीलिये, इनकी मधुरतामें भी अन्तर होता है। इक्षु शर्करासे दुग्ध शर्करा कम मीठी तथा

दुग्ध शर्करासे यव शर्करा और भी कम मिठास रखती है । मिठास की न्यूनाधिकतामें भिन्न २ कौन २ से तत्वके परमाणु कारण हुते हैं, और किस सगठनमें होते हैं; उनमें आपेक्षित मिठास की मात्रा कितनी २ होती है, इसको बहुत कुछ मालूम किया गया है । परन्तु इसका उक्त प्रसंगके साथ कोई सम्बन्ध न होनेसे वर्णन नहीं किया । उक्त मधुर रसके संगठन सम्बन्धमें शास्त्र बतलाता है—यह जलीय गुणोंके कारण द्रव्योंमें आया है। पर रसायनिक संगठनमें प्रधान तत्व कज्जल पाया जाता है, जिसके साथ जलके अणु मिलकर मधुरताके कारण बनते देखे जाते हैं । इसमें भी जल कोई मौलिक तत्व रूप नहीं, प्रत्युत दो वायव्योंका एक यौगिक मिला है । जब जल तत्व रूप ही न हों तो उसके तात्विक गुण क्या ?

अम्लरस और उसका रसायनिक रूप

हम यदि खट्टे या मीठे पनकी मात्राको जिह्वा द्वारा ठीक ठीक मालूम करना चाहें; तो हमें इसमें सफलता नहीं मिलती । जिह्वाके सम्बन्धमें जो सिद्धान्त मधुरतामें लागू हैं, वहीं अम्लतामें भी लागू हैं । इसमें कोई संशय नहीं, कि जो पदार्थ साधारणसे साधारण खटाईका स्वाद रखते हैं उन्हें अम्ल कहा जाता है, पर अम्लताकी परीक्षा ठीक तौर जिह्वा नहीं कर सकती । इसीलिये इसको जाननेके अर्थ दूसरे साधनोंको ढूढने की आवश्यकता हुई । अम्लकी परीक्षाके जो रसायनिक साधन ज्ञात हुए हैं, निम्न हैं।

अम्ल की परीक्षा

१. जो स्वादमें खटास रखता हो। यह खनिजाम्ल उद्भिदाम्ल भेदसे दो प्रकारका है।

(क) खनिजाम्ल—जैसे गाधकाम्ल, स्फुटिकाम्ल आदि।

(ख) उद्भिदाम्ल जैसे—सिरका, नीम्बू, नरगी फलोद्भूतरस दुग्धाम्ल आदि।

२. कोईभी अम्ल हो, उसमें अनेक रसायनिक द्रव्य घुल सकते हैं। जिसमें घुलनशील द्रव्योंकी मात्रा एक निश्चित होता है।

३. प्रत्येक अम्लोंमें से किसी अम्लको लेकर उसमें पांशुबहु गन्धितका कोई योगिक डालदें तो उक्त योगिकका गन्धक पृथक् होकर नीचे बैठ जाता है।

४. किसीभी अम्लमें नील द्योतक पत्र (लिटमसपेपर) को भिगोवें तो वह अम्ल उसको लाल कर देता है। इससे भिन्न यह फीनोल-थलीन (Phenolphthalein) को भी लाल करदेता है।

५. अम्लोंको क्षारके साथ मिलाया जायतो उससे निर्बल लवण बनते हैं। ऐसी अवस्थामें अम्लद्रवका अम्लत्व नष्टहो जाता है। और उसका गुण अम्ल और क्षार दोनोंसे भिन्न होता है।

६. किसीभी अम्लमें—जो अत्यन्त शिथिल या निर्बल नहों, यशद धातुके पत्र डालदेने पर उस द्रव्यसे उदजन नामक वायव्य निकलने लगता है। इन छः विधियोंसे किसीभी पदार्थमें अम्लत्वके होनेकी निश्चित परीक्षा की जा सकती है।

अम्ल भेद

हम ऊपर बतला चुके हैं कि खनिजाम्ल और उद्भिदाम्ल भेद से अम्ल दो वर्गके हैं । इनको अकाज्जलिक और काज्जलिक अम्ल भी कहते हैं । अकाज्जलिक अम्लमें कज्जल नहीं होता । जैसे गन्धकाम्ल, गन्धसाम्ल, शोरकाम्ल, लवणाम्ल आदि । काज्जलिक अम्लोंमें कज्जल तत्व प्रधान होता है । यह अम्ल प्रायः वृक्षोंके फल पत्र सिरका या पाशविक अंगोंसे सन्धान द्वारा प्राप्त होता है । आयुर्वेदिक चिकित्सामें कज्जलाम्लोंका ही उल्लेख पाया जाता है, अकाज्जलिक अम्ल आधुनिक युगकी उपज हैं । इस समय दोनों प्रकारके अम्लोंकी संख्या इतनी अधिक हो गई है कि उनमेंसे अनेक अम्लोंको वैद्य जानते तक नहीं । हम उनके कुछ रसायनिक नाम और संकेत सूत्र देते हैं ।

अकाज्जलिकाम्ल और उनके रसायनिक सूत्र

गन्धसाम्ल Sulphurous Acid ($उ_2$ गं $ऊ_3$)
गन्धकाम्ल Sulphuric Acid ($उ_2$ गं $ऊ_4$)
सोरसाम्ल Nitrous Acid (उ $ऊ_2$)
सोरकाम्ल Nitric Acid (उ प $ऊ_3$)
स्फुरिकाम्ल Phosphoric Acid ($उ_3$ स्फु $ऊ_5$)
स्फुरिसाम्ल Phosphorous Acid ($उ_3$ स्फु $ऊ_3$)

काज्जलिकाम्ल

सिरकाम्ल Stetic acid ($क_2 उ_5 ऊ_2$) या (क $उ_3$ क ऊ ऊ $उ_7$)
पिपीलिकाम्ल Formic acid (क $उ_2$ $ऊ_2$) या (उ क ऊ ऊ उ)

लोबानिकाम्ल Benzoic aicd (क$_{६}$उ$_{५}$ कऊ ऊउ)
बादामिकाम्ल Mandelic acid (क$_{६}$ उ$_{५}$ (ऊउ) (कऊ ऊउ)
दालचीनीकाम्ल Cinnamic acid (क$_{६}$उ$_{५}$कउ:कउ कऊ ऊउ)
निम्बुकाम्ल Citric acid (कउ$_{२}$कऊ$_{२}$उ)२क (ऊउ) कऊ$_{२}$ उ+उ$_{२}$ऊ
चिञ्चाम्ल Tartric acid (कऊ$_{२}$उ)२(कउऊउ)(उ$_{२}$ऊ)
चिञ्चोनिकाम्ल Tartronic acid (कऊ ऊउ कउ ऊउ कऊऊउ)
तवनीतिकाम्ल Butiyric acid (क$_{३}$उ$_{७}$क$_{३}$ऊऊउ)
मधुरिकाम्ल Glyceric acid (कउ$_{२}$ऊउ कउ ऊउ$_{२}$)
दुग्धकाम्ल Lactic acid (कउ$_{२}$ कउ ऊउ)
वसाम्ल Stearic acid (क$_{१७}$ उ$_{३५}$ कउ ऊउ)
माजूफलाम्ल Gallic acid (क$_{६}$उ$_{५}$ (ऊन)$_{३}$ कऊ ऊउ)

हमने यहां पर बहुत ही थोड़े से अम्ल दिये हैं। अकज्जलिकाम्ल और काज्जलिकाम्लोंकी संख्या दस बीस नहीं, प्रत्युत सैकड़ों हैं। इन अम्लोंके उक्त सूत्रोंसे स्पष्ट है कि यह प्रायः तीन ही तत्वके यौगिक हैं। जितने भी खनिजाम्ल हैं उनमें दो तत्व तो वही उदजन और ऊष्मजन नामके वायव्य सम्मिलित हैं, यही शर्कराकी अणुओंमें विद्यमान हैं जिस तरह रसायन शास्त्रमें शर्कराओंको कज्जलांदेत संज्ञा है, इसी प्रकार उदजन और ऊष्मजनके अम्ल सम्मेलनमें इनकी ऊष्मूदिद (उऊ) संज्ञा है। इसका अर्थ यह है कि जब उक्त दोनों वायव्य किसी और तत्वसे इस सम्मेलनमें आकर मिलते हैं तो उनसे अम्लोंकी रचना होती है। यथा—

जब इन्हें गन्धकके साथ मिलावें तो गन्धकाम्ल या गन्ध-साम्ल बनता है। यदि स्फुरके साथ मिलावेंतो स्फुरकाम्ल या स्फुरसाम्ल बनता है इस प्रकार पवनसे मिलावें तो पवनाम्ल या शोरकाम्ल, लवण जनसे मिलें तो लवणाम्ल आदिकी उत्पत्ति होती है। उक्त खनिजाम्लोंको तो हम गन्धक आदिको लेकर ऊष्मू-दिदके साथ रसायनशालामें एक निश्चित मात्रा पर उताप दबाव देकर सम्मेलन कराते हैं। पर, भिन्न २ उद्भिदाम्लों या प्राणिज अम्लोंका कज्जलके साथ ऊष्मूदिदका सम्मेलन वनस्पतियों या प्राणियोंकी भोजन-प्रक्रिया द्वारा होता है। इन अम्लोंमें कज्जल या कोयला प्रधान तत्व होता है। जिस तरह कज्जलसे उक्त दोनों ही वायव्य तत्व मिलकर शर्कराके उत्पादक हैं, उसी प्रकार यह अम्लके भी उत्पादक हैं। शर्करासे इनका कोई अन्तर है तो केवल रसायनिक संगठनका है।

किसीभी वैद्यसे यह छिपा हुआ नहीं, कि जब जलमें शर्करा घोल कर दो चार दिन रखदें,तो उसमें स्वतःही सन्धान उठ खड़ा होता है, और उक्त मीठा मद्यमें परिणित होने लगता है। यदि किसी मीठे घोलमें सुराबीज छोडदें, तो उसी समयसे ही सन्धान प्रारम्भहो जाता है और देखते २ कुछ समयमें ही सारी शर्करा मद्यके रूपमें आजाती है। उससमय उस जलमें मधुरता नहीं रहती। उस घोलमें मद्यका स्वाद आने लगता है। फिर उस घोलको इसी तरह कुछ दिन और पड़ा रहनेदें तो उसका मद्यवाला स्वादभी जाता रहता है, उसमें सिरकेका स्वाद आने लगता है, इस प्रक्रियाको शीघ्रपूर्ण करना हो तो किसी मद्यमें एकबूंद सिरका

डालदें तो जितनाभी मद्य है बड़ी ही शीघ्रतासे सिरकेमें परिणत होने लगजाता है। उक्त परिवर्त्तनको देखकर यह कहना पड़ता है कि शर्करा मद्यमें बदली और मद्य सिरकेमें बदल गया। इसप्रकार एक स्वाद वाले पदार्थका दूसरे स्वादमें, तथा दूसरे स्वादसे तीसरे स्वादमें जाना, इसबातका स्पष्ट प्रमाण है—कि एक ही वस्तु जलका माध्यम पाकर एकसे दूसरे रूपमें बदल सकती है। ऐसी दशामें उक्त वस्तुओंका तात्विक रूप नहीं बदला प्रत्युत उनका रसायनिक संगठन बदल जाता है यथा—जब हम जलमें इक्षु शर्कराको घोलकर उसमें किण्व या सुराबीज डाल देते हैं, तो सर्व प्रथम शर्करा जिसका रसायनिक संगठन $क_{१२}$ $उ_{२२}$ $ऊ_{११}$ है यह मिष्ठ सन्धानियों (Enzymese) द्वारा इक्षु शर्कराके अणु द्राक्ष शर्करा $क_{६}$ $उ_{१२}$ $ऊ_{६}$ और फलशर्करा $क_{६}$ $उ_{१२}$ $ऊ_{६}$ के अणुओंमें विभक्त हो जाते हैं और जैसे २ उक्त शर्करा बन २ कर जलमें घुलती जाती है वैसे इसको सुरा सन्धानी (Yeast Enzymese) उसको मद्यमें $क_{२}उ_{५}$(ऊउ)में परिवर्तित करते रहते हैं। ऐसे समय कज्जलद्विऊष्मिद वायव्य इस रसायनिक परिवर्त्तनके समयसे संजनित होता है जो सन्धान कालमें उक्त द्रवसे निकलता रहता है। इसके पश्चात् यदि अब इस मद्यमें चुक्रक सन्धानी पड़ जाये तो उक्त मद्य $क_{२}$ $उ_{५}$ (ऊउ) सिरकाम्ल ($क_{२}$ $उ_{४}$ $ऊ_{२}$) में परिणातहो जाता है इस प्रकार उक्त परिवर्त्तनमें तत्व वही बने रहते हैं केवल उनका रसायनिक संगठनही बदल जाता है। इस प्रकार अम्ल भी पञ्चतत्वोंमें पृथ्वी और अग्नि गुणोंकी अधिकतासे उत्पन्न नहीं देखे जाते। प्रत्युत कज्जल या धातुओंके साथ ऊष्मू दिदोंके सम्मेलनके परिणाम हैं।

क्षार रस और उसका रसायनिक रूप।

यद्यपि षट्रसोंमें क्षारको प्रधानरस नहीं माना गया है, कई इसको स्वतन्त्ररसभी नहीं मानते;- परन्तु परीक्षाओंसे ज्ञात होता है कि क्षार मुख्यरसोंमें स्थान पाने योग्य स्वतन्त्र रस है। क्षारों में तीक्ष्णताको देखकर कई व्यक्ति कहते हैं कि यह तीक्ष्णता स्पर्शके कारण भासित होती है और इसका स्वाद भी इसी तीक्ष्णतासे सम्बन्धित एक स्पर्श सम्वेदना है। पर यह बात सही नहीं। यह किसीसे छिपा नहीं कि मन्द, मध्य और तीक्ष्ण भेदसे क्षार तीन प्रकारके हैं। कोई भी मन्द क्षार स्पर्श सम्वेदक नहीं प्रत्युत रस सम्वेदक है। इसका स्वादही कुछ तीक्ष्णता युक्त विशेष रसयुक्त है और इसका सम्वेदन जिह्वाके अग्र भागपर अधिक देखा जाता है। इसके घोलका जिह्वाके भिन्न २ भागोंसे स्पर्श कराकर आप परीक्षा ले सकते हैं। यदि स्पर्श सम्वेदनसे इसका सम्बन्ध हो तो प्रत्येक स्थल पर इसका एक जैसा मान होना चाहिये, पर ऐसा नहीं देखा जाता। इसका ऐसा स्वाद है जो और किसी स्वादसे नहीं मिलता, न अम्ल रहित किसी मिश्रणमें ही यह अपने स्वाद सम्वेदनसे रहित होता है। निमकके साथ मिलाकर स्वाद लेने पर भी इसका भिन्न ही स्वाद प्रतीत होता है। इससे भिन्न रसायनिक संगठनोंमें भी यह एक स्वतन्त्र संगठित पदार्थ है और इसको विशेष परीक्षाओंसे जाना जाता है यथाः—

क्षारपरीक्षा।

(१) कोई भी मन्द, मध्यम या तीक्ष्ण क्षार हाथके स्पर्श

से साबुनवत् चिकने प्रतीत होते हैं ।

(२) लाल द्योतक पत्र (लिटमस पेपर) को इसके घोलमें डुबोया जाय तो यह उसे नीला कर देते हैं ।

(३) जब इनको किसी अम्ल द्रवमें मिलाया जाय तो उसके साथ संयुक्त होकर शिथिल लवण बनाते हैं ।

४. और मन्दक्षार अम्लोंके साथ जब मिलते हैं तो उनमें रसायनिक क्रिया होती है और उससे कज्जलद्विऊष्मिद वायव्य जनित होता है । इस तरह हम किसीभी क्षारकी अम्लवत् परीक्षा लेसकते हैं । क्षारोंका रसायनिक संगठनभी प्रकृतिमें पूर्ण स्वतन्त्र और विशेष महत्त्वका पाया जाता है । इससे भिन्न क्षारोद्भव तत्त्वभी पांच हैं (१) रक्तम् (२) सैंधजम् (३) पांशुजम (४) रूप्यदम् और (५) श्यामम् । यह पांच मौलिक धातुएं क्षार जनक धातुएं कहलाती हैं । इन धातुओंमें से किसीभी धातुसे ऊष्मजन और उदजन नामक वायव्योंका जब संयोग होता है तो उनसे क्षारोंकी उपलब्धि होती है । और जिसतरह उक्त दोनों वायव्य अम्लोंमें ऊष्मेदिद कहलाते हैं, इसी प्रकार यह दोनों वायव्य क्षारोंसे भी ऊष्मेदिद कहलाते हैं और इनका रसायनिक सूत्र (ध ऊ उ) होता हैं । इस संकेतमें 'ध' से अभिप्राय-उक्त धातु तत्वोंमेंके किसी धातुसे है । यथा जब रक्तम् ऊष्मजन उदजनसे मिलता हैं तो उससे (र ऊ उ) और जब सैंधजम् ऊष्मजन उदजनसे मिलता है तो (सैं ऊ उ) सैंधक्षार उत्पन्न होता है । इन पांचों धातुओंसे उत्पन्न क्षार समान गुणी हैं । इससे भिन्न चूनजम्, वारारिम् आदि धातुसे उक्त

ऊष्मोदिकके संयोगसे कुछ और क्षारभी बनते हैं यद्यपि, पवनियां (एमोनियां) (पउ$_4$ ऊउ) का पउ$_4$ क्षारीय रूप-जो उक्त क्षार तत्वोंके समान गुण वाला है तथापि इसे अपवाद रूपसे ही माना जाता है।

भिन्न २ क्षारों के रसायनिक सूत्र
रक्तम्, सैंधजम्, पांशुजम्, रूपदम्, श्यामम् के साथ ऊष्मोदिदोंके यौगिक।

मन्द क्षार	मध्य क्षार	तीव्र क्षार
(र$_2$ क ऊ$_3$)	(र उ क ऊ$_3$)	(र ऊ उ)उ$_2$ऊ
(सैं$_2$ क ऊ$_3$)	(सैं उ क ऊ$_3$)	(सैं ऊउ)
(पां$_2$क ऊ$_3$)	(पां उ क ऊ$_3$)	(पां ऊउ)
(रु$_2$ क ऊ$_3$)	(रु उ क ऊ$_3$)	(रु ऊ उ)
(श्या$_2$कऊ$_3$)	(श्या उ क ऊ$_3$)	(श्या ऊउ)
		(चू ऊ उ)
		(प उ$_4$ऊउ)

इस समय मन्दक्षारोंमें हमारे सामने स्वर्जिक्षार (सैंध कज्जलेत) और यवक्षार (पांशुकज्जलेत) प्रसिद्ध क्षार हैं। इससे भिन्न मध्यक्षार और तीक्ष्ण क्षारोंका व्यवहार हमारे यहां बहुत कम देखा जाता है। हां, इस समय साबुन बनानेके उपयोगमें तीव्र क्षार-दाहक सैंधज, दाहक-पांशुजक्षार-नामसे काफी उपयोगमें आ रहे हैं जो विदेशसे बनकर आते हैं। यह क्षार भी

उन्हीं तत्वोंके प्राय: यौगिक विशेष हैं जिनके मधुर और अम्ल रस यौगिक सिद्ध किये जा चुके हैं।

लवणरस और उसका रसायनिक रूप।

रसायन शास्त्रमें लवण तो अनेक हैं जो अनेक यौगिकोंसे उपलब्ध होते हैं। जैसे रलोवरका लवण (सैं$_2$ गं ऊ$_4$ १०उ$_2$ऊ) लवण धूप (सैं$_2$ गं ऊ$_4$) पांशु गन्धेत (पां$_2$ गं ऊ$_4$) आदि। यह सब रसायन शास्त्रकी दृष्टिसे लवण कहाते हैं। वास्तवमें लवण वह है जो लवण जनक तत्वोंसे प्राप्त होते हों। जिस तरह अम्ल और क्षारके उत्पादक कुछ तत्व हैं। इसी प्रकार प्रकृतिमें लवणोत्पादक लवण जन, नोनजन, ब्रह्मणिका और नीलिका चार तत्व ऐसे पाये जाते हैं, जिनको लवणजन तत्व कहा जाता है। इनमें दो तत्व वायव्य और एक पारदवत् द्रव पदार्थ तथा चौथा नीलिका अर्ध धातु पदार्थ है। इन तत्वोंमेंसे कोई भी तत्व जब किसी धातुसे संयुक्त होता है तो इनके संयोगसे लवणकी उत्पत्ति होती है। यथा—जब सैंधजम धातुसे लवणजन वायव्यका संयोग होता है तो इन दोनोंके संयोगसे सैंधव लवण (सैंल) बनता है जिसको हम नित्य प्रति भोजनमें डालकर खाते हैं। यद्यपि, हमारे ग्रन्थोंमें इसी एक लवणका उल्लेख पाया जाता है और जैसा रुचिकर यह लवण है—जैसा अच्छा स्वाद इसका है—ऐसा किसी भी लवणका नहीं। वास्तवमें मानवी जीवनके लिए जितना यह उपयोगी है, उतने और नहीं। लवणोंमें-खाद्य दृष्टिसे-इसीको प्रधानता देते हैं। परन्तु रसायन शास्त्रमें प्रत्येक लवण अपना भिन्न स्थान रखते हैं।

जिस प्रकार लवण जन सैंधजम् धातुसे संयुक्त होकर सैंधजम् लवणका नद्भावकहै, इसी प्रकार पांशुजम्,रक्तम्, ताम्र, चांदी,सोना आदि अनेक धातुएं लवणजनसे मयुक्त होकर उक्त धातव लवण बनते हैं। धातुओंकी सख्या लगभग सत्रके हैं। एक लवणजन वायव्य सत्तर प्रकारका लवण देता है। इसीतरह नोनजव वायव्यभी उक्त धातुओंसे मिलकर उतनेही लवण देता है। इसीतरह ब्रह्मणिका और नैलिकाभी धातुओंसे संयुक्त होकर भिन्न भिन्न उतनेही धातव लवण देते हैं। इससे भिन्न अनेक शिथिल लवण व गौणलवण -जैसे ग्लौबरका लवण आदि बनते हैं। इसप्रकार लवणोंकी- सख्या कई सौके ऊपर है, जिनका वर्णन अप्रसंगिक होगा। हमारा सम्बन्धतो केवल सैंधव लवणसे ही है और इसी एक लवणके स्वदको प्रधान रस माना है। और इसके ही सम्बन्धमें शास्त्र कहता है—कि यह जल और अग्नि गुणकी अधिकतासे द्रव्योंमें उत्पन होता है। वास्तवमें लवण एक घुलनशील द्रव्य है, और हमें यह जंगम वर्गसे तथा भूमिगर्भसे या समुद्र जलसे प्राप्त होता है, जिसके हमारे यहां पांच सात प्रकार माने है। यथा—गोमूत्र लवण, अनामूत्र लवण आदि। जगम वर्ग या प्राणिवर्गके शरीरमें यह लवण कहासे आते है? अनुसन्धानसे ज्ञात होता है कि यह लवण जलमें घुलकर उन उद्भिद वर्गके प्राणियों (वृक्षों) में जाते है। वृक्ष लवणोंका उपयोग प्रायः पुसिमदशामें ही करते हैं। वृक्षोंमें लवणके वास्तविक रूपका विच्छेद बहुत कम होता है। हमें वृक्षोंसे सैंधव लवण,पांगलवण और रक्त लवण प्रायः उपयोग के लिए मिलते हैं। इन्हीं लवणोंकी विद्यमानतामें हम उन

वनस्पतियोंमें लवणका स्वाद पाते हैं। इन्हीं वनस्पतियोंके द्वारा उक्त लवण अन्य प्राणियोंमेंभी पहुचते हैं। मनुष्यही एक ऐसा प्राणी है जो खनिज लवणका व्यवहार करता है पर संसारका और कोई प्राणी नहीं करता। परन्तु इसका स्वाद रुचिकर होनेके कारण और प्राणीभी इसको खा लेते हैं। सैंधव लवण और पांशव लवण प्रायः शरीरोपयोगी द्रव्य हैं। और इनकी विद्यमानता शरीरके मौलिक घटकोंमें भी पाई जाती है। इसलिये विश्वास किया जाता है कि यह एक जीवनोपयोगी सामग्रीमेंसे है। इस प्रकार यह लवणभी पंचभूतात्मक नहीं।

कटु और उसका रसायनिक रूप।

चिरायता, अतीस, सनकोना आदि अनेक ऐसे वानस्पतिक पदार्थ हैं, जो जिह्वा पर रखते ही मुहका स्वाद अरुचिकर बना देते हैं। एक बार इनको खानेके पश्चात् कोई भी व्यक्ति पुनः इनको खानेकी रुचि नहीं करता। तिक्तोत्पादक या मुहमें चटपटाहट उत्पन्न करने वाले जो द्रव्य हैं जैसे काली मिर्च, लाल मिर्च इनकी चटपटाहटका आनन्द लेनेका अभ्यास जिन व्यक्तियोंको पड़ जाता है, उनको बिना इनकी विद्यमानताके अच्छासे अच्छा भोजन स्वाद रहित प्रतीत होता है। पर, कटु एक ऐसा रस है कि जिसकी ओर किसी भी व्यक्तिकी रुचि नहीं देखी जाती। परन्तु प्रकृतिने इस रसमें ऐसे यौगिकोंको संगठितकरके इसमें छिपा रक्खाहै जो और रसोंकी अपेक्षा इसमें गुण-दायी अंश अधिक होताहै। और मानव समाज अपने दीर्घ कालिक अनुभवके कारण इनसे महान् लाभ उठाता चला आ रहा है।

कटुरस विशिष्ट द्रव्य अपने रसायनिक संगठनके कारण अनेक व्याधि हारक शक्ति रखते हैं। इसीलिए इन्हें रोगावस्थामें इच्छा रहित (विवश) हो खाना पड़ता है।

आयुर्वेदमें जिन कटुरस प्रधान द्रव्योंका उल्लेख मिलता है प्रायः सारे के सारे ही वानस्पतिक अंगोंसे उपलब्ध किये जाते थे। पर इस समय इन कटुसारीय प्रधान द्रव्योंको वनस्पति अंगसे शुद्ध रूपमें प्राप्त कर लिया गया है। इससे भिन्न वैज्ञानिकोंने इनकी रसायनिक रचना ज्ञात करके अपनी प्रयोगशालाओं में कृत्रिम विधि से भी बना डाला है। इन कटुसारीय द्रव्य की रसायनिक जांच करने पर ज्ञात हुआ है कि यह जितने भी इस वर्गके कटुसारीय द्रव्य हैं, विशिष्ट क्षार गुण सम्पन्न होते हैं। इससे भिन्न सबके सब अत्यन्त विषस्वरूप भी हैं। इसीलिये इनका नाम तन विष रखा गया है। और क्षार गुण सम्पन होने से यह क्षारविद्भी कहलाते हैं। रसायनिक शास्त्रमें क्षार विद्से ही प्रसिद्ध हैं। इनका रसायनिक संगठन निकालने पर ज्ञात हुआ है कि यह सब बड़े पेचीदा रसायनिक रचनाके द्रव्य हैं। इसीलिये इस विभागके द्रव्योंको रसायनिकोंने क्षारविद् या तन विषके नामसे एक भिन्न विभाग बना कर, उसमें इन्हों रक्खा है। और इस वर्गमें जितनेभी क्षारविद् द्रव्य वनस्पतियोंसे भिन्न किये गये हैं, उनमें कुछ विशिष्ट योगिकोंके रूपभी पायें गये हैं। जिन विशिष्ट योगिकोंके रूप इनमें विद्यमान रहते हैं, वह भिन्न है।
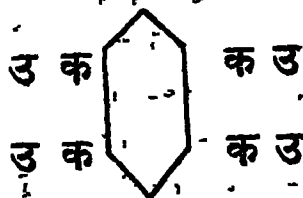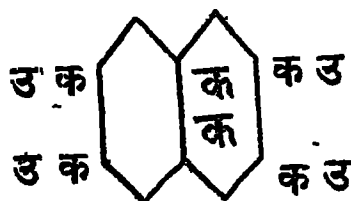
इन तीनों यौगिकोंका हम संक्षिप्तमें वर्णन देदेना उचित समझते हैं। मरिचीदिन एक ऐसा क्षारविद यौगिक है जो विशेष क्षारीय गुण सम्पन्न है। इस स्वतन्त्र यौगिकमें बड़ी ही तीव्र सुगन्ध पाई जाती है। आजकल इसे कृत्रिम विधि द्वारा तारकोलके आंशिक स्रवणसे प्राप्त करते हैं। यह कटुसारीय द्रव्यों

या तन-विषीय द्रव्योंका एक प्रधान अंग होता है। (२) कुनोलिन यह भी अनेक तन-विषोंमें पाया जाता है। (३) इसी प्रकार समकुनोलीन भी इसीका समीपी संगठक तन-विषका एक प्रधान द्रव्य है। जिसमें कुनोलिन नहीं होता, उसमें इसकी विद्यमानता देखी जाती है। पर कुनोलिन ही अधिकतर तन-विषोंमें देखी जाती है। अफीममें, अतीसमें, चिरायतेमें, सनकोनाके वृक्षमें, इन्हीं दोनोंमेंसे किसी एककी कृपा होतीहै। जिनके कारण उक्त वानस्पतिक द्रव्योंके कटु सारीय भाग अहिफेनिया, अतीसिन, चिरायतिन, और कुनैन आदि में भयकर कटुताका रूप देखा जाता है। यह तन विष या कटुसारीय वास्तवमें वानस्पातिक अंगके गुणादायी भाग हैं, जिनको हम वनस्पतियोंके गुण, प्रभावके नामसे याद करते हैं। इसी वानस्पतिक अंगके गुणमय तत्वको रसायनिकोंने उनसे भिन्न करलिया है। और इनमेंसे अनेकोंके गुण, स्वभाव प्रभावको अच्छी तरह जानलिया है। जिनका संक्षिप्त वर्णन आगे गुण प्रभावके प्रसंगमें दिया जायगा। यद्यपि प्रत्येकके गुण, स्वभाव, प्रभाव प्रथक् २ होते हैं, तथापि कुछगुण ऐसे हैं जो समान रूपसे सबों में पाये जाते है। यथा—

तन-विषोंके सम साम्पत्तिक गुण

१. कोईसी तन-विष या कुटुसारीय द्रव्य —सब क्षारगुण सम्पन्न होते हैं।

२. इनसे प्रायः आगे चलकर ऐसे योगिक बनते हैं जो अनुघुल होते।

३. इन सबोंका स्वाद अत्यन्त कटु होता है।

४. कुछएकोंको छोड़ कर प्रायः सब विशाक्त प्रभावी होते हैं।

५. दोको छोड़ कर सब कण रूप या ठोस होते हैं।

६. यह शुद्ध जलमें नहीं घुलते, पर कज्जलयोगिकोंमें घुल जाते है।

७. हां, इन तन विषके लवण—जो प्रायः लवणअनके योगिक होते हैं या पवनके योगिक पवनेत होते हैं, वह जलमें घुलजाते हैं। और क्षारीय घोलोंमें न घुलने वाले तन-विष इस विधिसे प्राप्त होते हैं।

८. प्राय· प्रत्येक तन-विष वनस्पतियोंके अग भागमें अम्लिक मिश्रणोंके रूपमें विद्यमान रहता है और तन-विषके या क्षार विद् इस में मिले रहते हैं। यह सब एक विधिसे भिन्न नहीं होते। इन सबोंको निकालनेके लिये भिन्न २ विधियां काममें लानी पड़ती हैं, यहभी भिन्न २ तन-विषोंमें एक विशेषता है।

हम कुचला, अफीम, धतूरा, खुरासानी, अजवायन, मीठातेलिया सनकोना, चाय तम्बाखू आदि वानस्पतिक पदार्थोंमें जो मादक व गुण कारी प्रभाव या असर देखते हैं वह वास्तवमें इनमें विद्यमान अनेक प्रकारके तन-विषों या क्षार-विदोंका ही प्रभाव होता है। इनमें से किसीमें एक प्रकारके किसीमें दो २ तीन २ तन-विष या क्षारविद विद्यमान रहते हैं। कुचलेमें एक, अफीममें दो, धतुरेमें एक, खुरासानी अजवायनमें दो, मीठातालिया

में दो, चायमें एक, तम्बाखूमें एक, सनकोनामें तीन, तन-विष या चारविद पाये जाते हैं। जिनका रसायनिक संगठन निम्न रूपमें है।

विषमुष्टीन गन्धित

(क$_{२१}$ उ$_{२२}$ प$_{२}$ ऊ$_{२}$) उ$_{२}$ ग$_{४}$ ५उ$_{२}$ ऊ

अहिफेनिया — अहिफेनीन

क$_{१७}$ उ$_{१९}$ प$_{३}$ क$_{२}$ उ$_{४}$ ऊ$_{२}$ २ उ$_{२}$ ऊ। क$_{१७}$उ पऊ$_{३}$+उ$_{२}$ऊ

धतूरीन (गंधित) — खुरासीन

(क$_{१७}$उ$_{२३}$प$_{३}$)उ$_{२}$ग$_{४}$, (क$_{१७}$ उ$_{२३}$) उ$_{२}$ गं २ उ$_{२}$ ऊ

शृंगकिन

क$_{३४}$ उ$_{४५}$ प$_{११}$

तमालीन — सनकोनीन — कुनीन

क$_{१०}$उ$_{१४}$प$_{२}$, क$_{१९}$उ$_{२२}$ प$_{२}$ऊ, क$_{२०}$उ$_{२४}$ प$_{२}$ऊ$_{२}$

कहवीन — पिप्परीदीन

क$_{८}$उ$_{१०}$ प$_{४}$ऊ$_{२}$+उ$_{२}$ऊ — क$_{५}$उ$_{१०}$प

उपरोक्त सूत्र संक्षिप्तमें दर्शाये गये हैं। यदि इनको यथा स्थान स्थापित करके रखा जायतो बड़ा विस्तार लेलेते हैं। यथा—

कहवीन का संगठन

```
क उ३ प————क ऊ
     |       |
    कऊ      क—प) (क उ३)—(उ२ऊ)
क उ३ प————क—प)  क उ
```
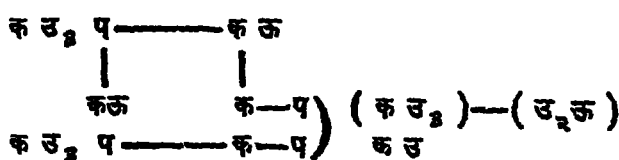
उक्त संगठनको देखकर आप अनुमान लगा सकते हैं इनका संगठन कितना पेचीदा है।

इस प्रकार कटु रस प्रधान द्रव्यका सगठन जब हमारे सामने आता है और इसके मौलिक तत्वोंकी ओर दृष्टि डालतेहैं तो हमें यहां भी वही कज्जल, उदजन, ऊष्मजन और पवनसे भिन्न कोई और तत्व नहीं दिखाई पड़ते। इसमें कोई संशय नहीं कि उक्त कटुरस द्रव्य जिस तन-विष (क्षारविद्) के आश्रित हैं वह गुणदायी होनेसे चाहे भूलकर हम कहने लगजांय कि यह कटुरस प्रधान द्रव्य का गुण है, पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं। कटुता तन-विष का धर्म या गुण है, जैसा कि हम पीछे बतला चुके हैं। इससे भिन्न अनेक द्रव्योंमें कटुता की न्यूनाधिकता का कारण कज्जल परमाणुओंकी सख्या परभी निर्भर है। सामान्यतः १ से ४ तक कज्जल परमाणुओंके गठनमें कुछ कटुता होती है, यथा—पिपीलि मघनार्द्र, और४ से ८परमाणुओं तकमें मीठा स्वाद आता है। कज्जलके ६ परमाणुमे ऊपर पहुचनेसे पदार्थोंका स्वाद कषापयुक्त होजाता है।

इसी तरह कितोन $\left.\begin{matrix}कउ_3\\कऊ_3\end{matrix}\right\}$ कऊ+उ$_2$ वर्गके योगिकों

में उससे कज्जल परमाणुओंके संगठित पदार्थकटुस्वादी होते हैं।

५ से७ तक मीठे और ७से६तक कषायरस प्रधान कुछ तीक्ष्ण होजाते हैं। इसी प्रकार उदूष्मिल (ऊ उ) मूल वाले कज्जल यौगिक उदूष्मिलके भिन्न २ स्थलों पर स्थापित होनेके कारण कोई कटु, कोई मीठे, कोई कषाय युक्त होते हैं। यथा—

दिव्योल क$_6$ उ$_5$ऊउ कटु है।
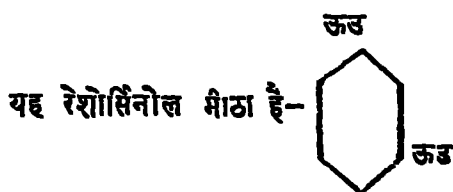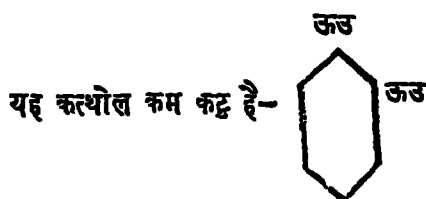
इससे भिन्न बहु चाक्रिक यौगिकों की व्यवस्था भिन्न है। उन पर दबाव का नियम काम करते देखा जाता है। जितना अधिक बाह्य परमाणुओं का दबाव चाक्रिक यौगिक पर पडता है, उनका स्वाद उतनाही कटु होता है। इस तरह स्वादके सम्बन्धमें काफी अनुसन्धान हो चुका है। जिस तरह कज्जल, उदजन, ऊष्मजन और पवन इन चारही तत्वोंके भिन्न २ संगठनके कारण मधुर, अम्ल स्वाद देखे जाते हैं, उसी तरह कटु का भी देखा जाता है। इस प्रकार स्वाद रसायनका विवेचन इस छोटीसी पुस्तकमें देना हमारे लिये सम्भव नहीं।

धातवीय रस

धातुओंके जिह्वापर स्पर्श करनेसे एक प्रकारका स्वाद प्रतीत होता है, जिसको मनोविज्ञान वेत्ता छटा धातवीय रसनाम देते हैं। परीक्षाओंसे देखा गया है कि जब तक कोई वस्तु जलसे न मिले और वह घोल रूप प्राप्त न करे, तब तक जिह्वाको उसका

स्पर्श—रस सम्वेदन नहीं होता। पर, हम देखते हैं कि कुछ धातुओं को यथा ताम्र और यशदकी छड़को—एक साथ जिह्वासे स्पर्श कराया जाय तो हमें एक प्रकारका रस सम्वेदन होता है और उससे एक प्रकारका स्वाद अनुभव होता है जिसे धातवीय स्वाद कहते हैं। इससे भिन्न कई और धातुओंमें भी इसी प्रकार का स्वाद देखा जाता है, जिसको धातवीय रस या स्वादका नाम दिया गया है। कई धातवीय ऊष्मिद भी कषाय, मधुर, कटु आदि सम्वेदक होते हैं, इसको भी कई धातवीय स्वाद का नाम देते हैं।

कई वैज्ञानिकोंका कथन है कि धातुओंमें विद्युत् चुम्बकीय शक्ति पाई जाती है, जिसके कारण हमें स्वाद सम्वेदक होता है। वास्तवमें धातव पदार्थ स्वयम् स्वाद सम्वेदक नहीं। खैर, हमें यहां इस विवादसे कोई प्रयोजन नहीं। हमारा तो मुख्य विवेच्य विषय शास्त्रीय षट् रसोंसे है। इसीलिए हम इस धातवीयरसके झगड़ेको यहीं छोड़ते हैं।

कषाय और तिक्त रस नहीं

जैसाकि हम पीछे बतलाचुके हैं, कषाय और तिक्त स्वादी दोनोंही स्पर्श सम्वेदक हैं। इनका प्रभाव रस सम्वेदक तन्तुओं पर नहीं होता प्रत्युत जिह्वाकी त्वचा पर होताहै। कहीं यह आप न समझ लें कि जिह्वा केवल स्वादका ही सम्वदेक अंग है। नहीं२ जहां एक और जिह्वामें स्वाद ग्रहण करनेकी शक्ति है इसके साथ उसमें स्पर्श अनुभवकी भी शक्ति है। दूसरे बाह्यत्वचाकी अपेक्षा यह अधिक कोमल होनेके कारण तीक्ष्ण व कषाय पदार्थ जिनका

त्वचापर न्यून प्रहर्षक व संकोच प्रभाव होता है, जिह्वापर अधिक होता देखा जाता है। लाल मिर्च या काली मिर्चको पीसकर त्वचापर लगाइये, पश्चात् जिह्वापर लगाइये, जिह्वा त्वचाकी अपेक्षा शीघ्र ही चरपराहटका पता देगी। इसीतरह कषाय प्रधान द्रव्योंका संकोचक प्रभाव त्वचा की अपेक्षा जिह्वा पर शीघ्र होता है। दूसरे इनके स्पर्शका प्रभाव इतना तीव्र है कि हम इसकी तीव्रताके कारण स्पर्श सम्वेदनके स्थान पर रस सम्वेदनका भ्रम होजाता है। जिसे हमारे पुराने विचारोंने विश्वासमें परिणतकर दिया है। यह कभी नहीं हो सकता कि हम स्वाद का अनुभव लेते समय स्पर्शानुभवसे सून्य रहें। वरन्, यहां तक देखा जाता है कि यदि हम किसी वस्तुके स्वादका अनुभव लेरहेहों, वह वस्तु अच्छी गन्धसे पूर्णहो तथा उसमेंचारपरापनभी हो तो हम स्वादको ठीक तौरपर नहीं बता सकते। अनेकोंबार परीक्षा लेने पर यह सही देखा जा चुका है—कभी गन्ध बाधक होता है, कभी स्पर्श और कभी सुन्दर रूपभी। जिसतरह वनस्पतियोंके अंगोंमेंसे विश्लेशण करके कटुसारीय तन-विष द्रव्य भिन्न कर लिये गये हैं इसी प्रकार वनस्पतियोंसे उक्त कषाय सारीय तथा तिक्त सारीय अशको भिन्न कर लिया गया है। जिनका नाम कषायनिक व तिक्तनि है और इनका रसायनिक सगठन भिन्न प्रकारका पाया जाता है।

कषायिनका रसायनिक संगठन का मूल सूत्र।

क₁₂ उ₆ ऊ₆

विशेष संगठन–

तिक्तीनका रसायन सूत्र ।

$क_{१२}$ $उ_{९}$ $प_{१}$ अर्थात्

क उ

प
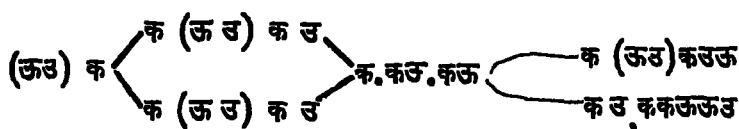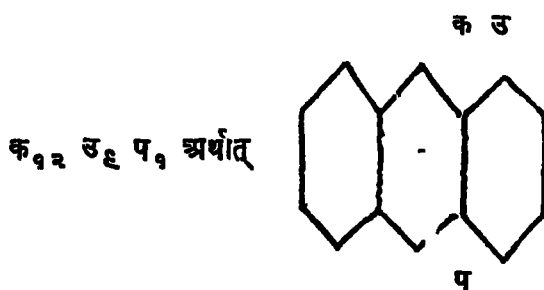
प्रत्येक वनस्पतिमें यह कषाय क्षारीय द्रव्य कषायिन एक ही प्रकारका पाया जाता है । हां इसके अम्ल तथा इसके और भिन्न भिन्न यौगिक अवश्य कुछ अन्तरके पाये जाते हैं । कषायिन कषायरसका मूल द्रव्य है । इसी प्रकार तिक्तीन 'चरपरेपनका । तिक्तीन प्रबल प्रहर्षक करोदक पदार्थ है ।

विपाक वीर्य पर कुछ विचार ।

इस प्रकार षटरसोंका किसी भी ऐसे तत्वोंसे सम्बन्ध नहीं पाया जाता, जिनको हम त्रिदोषसे सम्बन्धित कर सकें । कई व्यक्ति कह सकते हैं कि इन षटरसोंके विपाक होने पर उनका जो वीर्य व प्रभाव है वही रसका गुण प्रभाव माना जा सकता है । क्योंकि रसके साथ विपाक और वीर्य प्रभाव भी तो लगे हुए हैं । जिस तरह हम शरीरमें तीन दोषोंको प्रत्यक्ष नहीं देख

सकते, इसी प्रकार रसके विपाक परिणाम व प्रभावको प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। परन्तु, इनके सम्बन्धमें शास्त्रका जो मत है उस पर विश्वास करना पडता है यथा—

विपाक—

जठरेणाग्निनायोगाद् यदुदेति रसान्तरम्
रसाना परिणामान्ते सविपाक इतिस्मृत:।

जठरकी अग्निके योगसे जो द्रव्य रस पककर एक रूपसे दूसरे रूपको प्राप्त होते हैं उसका नाम विपाक है।

विपाक परिणाम

कटुतिक्त कषायाणा विपाकः प्रायशः कटु:
अम्लो ऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणास्तथा।

कटुतिक्त कषाय रस वाले द्रव्य का विपाक प्रायः कटु होता है, अम्ल रस द्रव्योंका अम्ल और मधुर रस व लवणाक्त द्रव्यों का विपाक मधुर होता है।

वीर्य

भूत प्रभावातिशयो द्रव्य पाकेरसे स्थितः
चिन्त्या चिन्त्य क्रिया हेतु वीर्यं धन्वन्तेरर्मतम्।

जो द्रव्य अपने तात्विक प्रभावकी अधिकतासे विपाक कालमें स्थित, चिन्त्य और अचिन्त्य क्रियाका कारण देखा जाताहै, उसका नाम वीर्य है। अथवा—

यत्र अचिन्त्य क्रियाहेतुर्योद्रव्य रसादीनां स्वः२ कर्मणि स्वभाव सिद्धाशक्तिः ।

जो अचिन्त्य क्रियाका कारण—द्रव्य रस, विपाक द्वारा अपने २ कर्म करके उत्पन्न हुई२—स्वभाव सिद्ध शक्ति है, उसका नाम वीर्य है।

किस २ द्रव्यका रस द्वारा विपाक कालमें क्या परिणाम होता है? इसके सम्बन्धमे शास्त्र कहता है—इसका बहुत सा भाग चिन्तनासे परेकी बात है। परन्तु, जो अंश चिन्तवनमें आता है या जिसका अनुभव होता है उसको वीर्य कहते हैं। यथा—

उष्णशीतगुणोत्कर्षात् वुधैर्वीर्य द्विधास्मृतं
यत्सर्वमाग्नि सोमोयं दृश्यते भुवन त्रयम् ।

द्रव्योंमें जो वीर्य है, वह उष्ण और शीत गुणोंके उत्कर्षसे दो प्रकारका है। वह अग्नि सोम (जल) रूपसे जगत्में दृश्यमान् है।

आत्रेयजी वीर्यके-सम्बन्धमें कहते हैं कि—

न वीर्य् कुरुते किञ्चित् सर्वावीर्य कृताक्रिया ।

जो द्रव्य वीर्य रहित हैं, वह न कुछ बना सकते हैं न बिगाड़ ही सकते हैं। अर्थात् वीर्य ही द्रव्योंमें गुण, प्रभाव-प्रधान अंग है। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि रसोंकी शक्ति जो द्रव्याश्रित है, वह वीर्य रूप ही है। रसोंका व्यापारभी वीर्यरूपमें ही होता है। वीर्यके सम्बन्धमें दूसरा ग्रन्थकार कहता है वीर्यसे

ही हमें शीतोष्णका भान होता है। अब प्रश्न यह उठता है जब शीतोष्णसे वीर्यका सम्बन्ध है तो निम्न लिखित गुणोंका भी मानना चाहिये यथा—

तीक्ष्णं रुक्षं मृदुस्निग्धं लघूष्णं गुरु शीतलं।
वीर्यं अष्ट विधिं केचित् वदन्ति शास्त्र पंडितः॥

केचित्, वीर्य तीक्ष्ण, रुक्ष, मृदु, स्निग्ध, लघु, उष्ण, गुरु, सितल आठ प्रकारका शास्त्र पंडित कहते हैं।

यह तर्कनाओंका ही परिणाम है कि एक शास्त्र शीतोष्ण भेदसे दो प्रकारके वीर्यका प्रतिपादन करता है। दूसरी ओर दूसरा शास्त्र आठ प्रकारका बतलाता है।

उक्त शास्त्र विवेचन पर विचार करनेसे वीर्यके सम्बन्धमें यह परिणाम निकलता है, कि रसोंकी शक्ति वीर्य है, तथा वीर्य और द्रव्यके गुण दोनों एकके पर्य्याय वाची हैं और यह शास्त्र सम्मत बात भी दिखाई देती है यथा—

गुणागुणाश्रया नोक्तास्तस्याद्रस गुणान् भिषेक्।
विद्याद्द्रव्य गुणान्कर्त्तुः—

गुण गुणोंके आश्रय नहीं, इसीलिये वैद्य रसके गुणोंको द्रव्योंका गुण जाने। जिसतरह शास्त्रोंमें लघु गुर्वराद २० गुण द्रव्योंके आश्रित माने गये हैं, इसी तरह मधुर अम्लरसभी द्रव्याश्रित माने गये हैं। जिसतरह द्रव्योंके गुणको द्रव्योंका क्रियात्मक परिणाम माना है, इसी प्रकार द्रव्य-रसका विपाक परिणाम—जिसको वीर्य माना है, उसकाभी तो क्रियात्मक परिणाम शीतोष्ण संज्ञक वीर्य्य

(गुण) ही है। जिसतरह द्रव्योंके साथ गुणोंका समवाय सम्बन्ध है, इसी तरह द्रव्योंके साथ रसकाभी है, ऐसी अवस्थामें द्रव्यके गुण और द्रव्यके रसका परिणाम (वीर्य) क्या किसी अशोंमभी भिन्न होसकते हैं ? यदि इसको गुणसे भिन्न माना जाय, तो शीत-उष्ण यह द्रव्योंके जो दो गुण मानेहैं इसका स्वरूप शरीरमें-भिन्न ही रूपमें प्रकट होना चाहिये तथा वीर्यके शीतोष्ण प्रभावका रूप भिन्न। पर ऐसा देखनेमें नहीं आता। न शास्त्रमें ही इसका कोई विवेचन मिलता है। शरीरमें वीर्यकी उष्णता व द्रव्योंका उष्णत्व प्रभाव किसी अवस्थामें भी भिन्न २ नहीं देखा जाता। जहां शास्त्रमें "रूक्षः शीतो गुरुः स्वादु" लिखा होता है या 'शीतपाके कटुलघुः' होता है वहां शीतका अभिप्राय कोई और नही होता, न शीतपाकका और। आत्रेयजी गेहूको 'स्वादु शीतलः' कहते है, जिसका अर्थ यहतो होही नहीं सकता कि गेहूकी रोटी खाते२ शरीरमें शीतलता आने लगतीहै। प्रस्तुत, इस शीतलताका अर्थ इसके विपाक परिणामका ही बोधक है। जिसका स्पष्ट अर्थ यही किया जासकता है कि गेहूं शीतवीर्य या शीत गुणयुक्त द्रव्य है। उक्त विवेचनसे पाठक समभगये होंगेके वीर्य और गुण दो भिन्न २ शक्तियां नहीं। गुणोंका स्फुटरूप शरीरमें ही प्रकट होता है, वीर्यका भी शीतोष्ण प्रभाव शरीरमें ही स्फुट होताहै इसलिये दोनों एकही सिद्ध होते हैं। हां ! जो व्यक्ति इन्हें भिन्न २ समझते हों वह कृपाकरके इनकी भिन्नताको स्पष्ट रूपसे सिद्ध करके दिखलावें। हम इस गोरख धन्धेको यहीं छोडकर अब रस, विपाक, वीर्य प्रभावका वैज्ञानिक उल्लेख रखना चाहते है और पाठकोंको यह दिखला देना चाहते कि जैसे कुछ

विचार इसके सम्बन्धमें आप सबके हृदयोंमें जम चुके हैं, बहुतही भ्रमात्मक हैं।

रस विपाकका विवेचन।

सबसे पूर्व देखने योग्य बात यह है कि हम जो कुछ खाते हैं, उसका शरीरमें पहुचकर क्या रूप बनता है? तथा भिन्न २ रसयुक्त द्रव्योंका रूप क्या बनता है? यह आप अच्छी तरह जानते हैं कि हम नित्य प्रति चलते हैं, फिरते हैं, अनेक प्रकारके परिश्रम करते हैं, लिखते हैं, पढते हैं। इन सारे कार्य व्यापारों में हमारे शरीरकी शक्तिका ह्रास होता रहता है। हमारी अवस्था जब बहुत ही कम होती है तो इस क्षयके साथ हमें अपने शरीरको बढानेके लिए भी कुछ विशेष शक्तिकी आवश्यकता होती है। इस क्षय पूर्ति और शरीर वृद्धि के लिए हमारे पास एक साधन है, भोजन। हम खाद्य द्रव्योंके द्वारा ही अपनी उक्त ह्रास होती हुई शक्तिकी पूर्ति तथा वृद्धिके लिए भी कुछ विशेष शक्तिका संचय करते हैं। हमें यह भी मालूम है कि हमारे भोजनीय द्रव्य एक जैसे रूप व स्वाद वाले नहीं होते। कोई हरा शाक पात है, तो कोई पीला, लाल, सुफेद फल या दाल अथवा मास, गेहूं, चावल हैं। कोई मीठा है, तो कोई खटा, निमकीन आदि। इस तरह अनेक रूप व स्वाद वाले पदार्थ मुंहमें मिश्रित होकर जब हमारे शरीरके भीतर पहुंचते हैं तो उनका अवशेष भाग (मल) असली रूपमें नहीं देखा जाता। न शरीरमें विद्यमान् उस जैसा कोई पदार्थ ही मिलता है।

इन बातोंको देखनेसे यह मानना पड़ता है—हम जो कुछ

खाते हैं शरीरमें पहुंचकर वह वस्तुएं उसी रूपमें नहीं रहतीं, प्रत्युत वह वस्तुएं शरीरके उपयोगी शरीर जैसे द्रव्यके किसी रूपमें बदल जाती हैं। यह वस्तुएं कैसे बदलती हैं? इनमें क्या २ परिवर्तन आताहै? और किन कारणोंसे आता है? यह इस निबन्धका विवेच्य विषय है। जिसको हम अत्यन्त संक्षेप में बतलावेंगे।

शास्त्र तो बतलाता है यि संसारके जितने भी द्रव्य खाद्योपयोगी हैं या जो नहीं हैं—उन्हें मानवी कुशाग्र बुद्धि ने बना लिया है—वह सारेके सारे षट्रसमय द्रव्य हैं। इन षट्रस प्रधान द्रव्योंको खाकर जब हम उदर में पहुंचा देते हैं तो उदरमें पहुंचकर यह षट्रसीय पदार्थ तिल प्रमाण अग्निके द्वारा पककर कटु, तिक्त, कषायरस प्रधान द्रव्य—कटुरसमें, और अम्ल प्रधान द्रव्य अम्ल रसमें, मधुर तथा लवणरस प्रधान द्रव्य मधुर रसमें परिणत हो जाते हैं। इस त्रिविध रसमय रूपको विपाक कहते हैं। इसी विपाकित रसमय द्रव्यों द्वारा हमारे शरीरकी की चय पूर्ति व वृद्धि होती है। इन्हींसे हमारे शरीरको शक्ति मिलती है। इसी विपाकित रसों द्वारा प्राप्त शक्तिका नाम वीर्य या बल है। और इसी वीर्यकी या वीर्य रूप अचिन्त्य शक्तिका नाम प्रभाव है; जिसके द्वारा हम रोगोंका निवारण करते हैं। पर आधुनिक अनुसन्धानसे इसमें सच्चाई लेशमात्र ही मिलती है।

हम पीछे बतला चुके हैं कि हमारे शरीरकी रचना पांच तत्वोंसे नहीं, प्रत्युत १४ तत्वोंसे हुई है। जिसका मुख्य

घटक अश्राजिद नामका जीवन मूलीय द्रव्य है । हमारे शरीरकी क्षीणतामें इसी अश्राजिद अंशके घटने या इससे निर्मित शरीरावयवोंके नष्ट होनेका नाम क्षय है । हमारे जीवन व्यापारमें जिस शक्तिका ह्रास होता है, वह अश्राजिदीय भाग है । इसीको हम भोजनके द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं । हमारा शरीर प्रत्येक भोजनीय द्रव्योंसे तीन प्रकारके सारवान् वस्तुओं को प्राप्त करता है । जिसमें का मुख्य एक असाजिदीय पदार्थ है और दूसरा पदार्थ कज्जलोदेत अथवा शार्करी है । तीसरा उदकज्जलेत या स्नेही पदार्थ हैं । असाजिद १८ प्रकारका है जैसे—अंडेकी सफेदी, अंडेकी जर्दी जिसको अंडसित, अण्डपित कहते हैं । इसीतरह वृक्षोंमें तथा प्राणियोंके शरीरमें उनकी रसायनिक रचना भिन्न २ होनेके कारण उनमेंभी असाजिद व पौष्याजिद कई प्रकारका देखा जाता है । इस आसाजिद व पोष्यजिद एकतो प्रत्येक खाद्योपयोगी द्रव्योंमें से शरीर ग्रहण करता है । दूसरा कज्जलोदेत जिसमें निशास्ता या माण्डी और प्रत्येक प्रकारकी शर्कराऐं सम्मिलित हैं, यह सब शार्करी कहाते हैं । इसको भिन्न शरीर ग्रहण करता है । तीसरा उदकज्जलेत जिसमें घृत, तेल, वसा, मज्जा आदि सम्मिलित हैं, इसको भिन्न रूपमें शरीर ग्रहण करता है । अश्राजिदीय द्रव्य शरीरके पोषणार्थ मुख्य घटक गिने जाते हैं । और शार्करी व स्नेही गौण ।

हम जो कुछ खाते हैं, हमारा शरीर अपने अन्त्राशयकी पाचनशक्तिसे प्रत्येक पदार्थको इन-तीनही रूपमें विभक्त करके ग्रहण करता है। भिन्न २ खाद्य द्रव्योंमें उक्त तीनों सारवान् द्रव्योंकी

कितनी २ मात्रा पाई जाती है। यह हम एक संक्षिप्त सारणी द्वारा व्यक्त करते हैं।

खाद्य द्रव्योंमें पोषक पदार्थोंकी मात्रा

पदार्थ	असृजिद्	शार्करी	स्नेही
	२½ तो. प्रति माशा	२½ तो. प्रति मा.	२½ तो. प्रति मा,
दूध गाय	०'६४	१'२६	१'०२
गेहूंका आटा	३'६०	२०'३५	०'५४
चावल साफ	१'७१	२६'०१	०'१५
मकई	२'१३	२७'८०	०'४८
जौ	२'६७	२०'६२	०'६२
दाल अरहर	६'४४	०	०'५०
दाल चना	६.७	०	१'४४
दाल उर्द	६'६१	०	०'२२६
दाल मसूर	७'५६	०	० १६
दाल मूंग	७'२	०	० १२५
आलू	०'७०	८'१५	०'०४
गोभी	०'५७	१'६७	०'०६
करमकल्ला	०'३६	१'२७	०'०३
प्याज	०'३७	०'०६	०'०३
मूली	०'२५	२ २४	०'०३
सेब	०'०१	३'५४	०'०६
केला	०'४५	२'२६	०'०३
अंगूर	०'१७	३ ६३	०'०३
नारंगी	२'२५	२'६६	०'०२
आम	०'०४	५:२०	०'२

इन वस्तुओंसे भिन्न अनैन्द्रिक पदार्थोंमें निमक और जलवायु भी हैं जिनकी शरीर को आवश्यकता होती है।

इन द्रव्योंमें से जैसा कि हमने पीछे बतलाया है—शरीर अल्लजिदीय पदार्थों को अल्लजिदीयके रूपमें ही बदल कर ग्रहण करता है। अल्लजिदीय वस्तुएं साधारणतया कुछ लवणाक्त और अंडसितोद कुछ फीके होते हैं। चाहे अल्लजिदीय फीके हों या लवण युक्त शरीरमें पहुंच कर सब लवणांक्त होजाते हैं। इससे भिन्न शार्करी पदार्थ भी फीके और मधुर होते हैं, निशास्ता या मांडी फीकी होती है। पर शरीरमें जाकर यह सारेके सारे द्राक्ष शर्करामें बदल जाते हैं और वह द्राक्ष शर्करा शरीरोपयोगी शर्करामें बदलकर रक्तमें खपती है। अर्थात्—मधुर द्रव्य और कुछ फीके द्रव्योंका विपाक मधुर ही होता है। स्नेही पदार्थों का जैसे तैल, घृत इनका कोई रसमय स्वाद नहीं होता। पर यह सबभी शरीरोपयोगी स्नेही पदार्थोंके रूपमें बदलते हैं। अर्थात्—इनका परिपाक स्वाद रहित ही होता है। हां, निमकों का स्वाद विपाकमें निमकीन ही रहता है। इस प्रकार अम्ल पदार्थ जैसे इमली, निम्बू आदि इनका अम्लत्व नष्ट होजाता है और इनसे शिथिल लवण बनतेहैं। जैसे—कज्जलोत्, गन्धेत् आदि। इस तरहसे परिपाक कालमें होनेवाले परिवर्तनसे न तो षट्रसों का कोई सम्बन्ध है, न कोई महत्व देखा जाता है। विपाक का अभिप्राय तो यह है कि जो कुछ हम खाते हैं वह हमारे शरीर योग्य बन जाय। इसको बनानेके लिये हमारे शरीरमें कोई अग्नि नहीं, प्रत्युत प्रत्येक प्रकारके शरीरोपयोगी खाद्य द्रव्यों को एक रूपसे दूसरे

रूपमें बदलने का कार्य करनेवाले शरीरकी अन्न-प्रणालीमें विद्यमान कुछ ग्रन्थियोंके रस हैं। इन ग्रन्थियोंके रसोंमें भी अनेक प्रकारके पाचक सन्धानी नामके भिन्न २ प्रकारके उत्प्रेरक जैव होते हैं, जो प्रणाली युक्त ग्रन्थिके रसमें रस कर उक्त भोजनमें मिलते रहते हैं, जिनसे भुक्त द्रव्यमें रसायनिक परिवर्तन आने लगता है। कुछ उक्त ग्रन्थियोंमें से तीव्र अम्ल और तीव्र क्षारोंका घोलभी रसकर आता है, जो इन रसोंके साथ भुक्त द्रव्योंमें मिलकर विशेष क्षारीय व अम्लीय पदार्थों का विश्लेषण करता रहता है और उनके संयोगसे शिथिल लवण बनते रहते हैं, तथा स्नेही द्रव्योंमें सन्धान होकर उनका कांदव बना करता हैं। इस तरह वह रस पुनः शरीरमें खपनेके योग्य तय्यार होता जाता है। इस प्रकार निमकीन और मीठे रसोंका परिपाक अवश्यही निमकीन व मीठा माना जा सकता है। निमकीनरसका मीठा विपाक नहीं बनता, न कटुतिक्त कषायका कटु। जैसा कि हमारे प्राचीन शास्त्र बतलाते हैं। कटु क्षारीय द्रव्य कई वर्गके हैं, जो तन-विष नहीं उनका विपाकभी मधुर होता है। जो क्षारीय हैं उनका प्रायः विपाक कटु या लवणाक्त होता है। क्योंकि क्षारोंका शरीरमें अम्लोंसे रसायनिक संयोग होता है और वह शिथिल लवणमें बदल जाते हैं। इसतरह परिपाकका जो शास्त्रीय सिद्धान्त है वह परिणाममें ठीक नहीं उतरता, न रसोंका त्रिपाक कालमें कोई महत्वही पाया जाता है। रसकातो सम्बन्ध जिह्वा तकही सीमित है। जहां भोजन कंठके नीचे उतरा, बस न उसका रसोंसे सम्बन्ध रहता है, न उसके विपाकावस्था में रसोंके देखनेकी आवश्यकताही प्रतीत होती हैं। इसतरह षट् रस-विपाक सिद्धान्तका कंठके नीचे जाकर अन्त होजाता है।

वीर्य प्रभाव का विवेचन

कई वैद्य अबभी कह सकते हैं कि खाद्य द्रव्योंमें यदि रसका प्रधान्य न भी सिद्ध हो, औषध द्रव्योंसे तो प्रत्यक्ष सिद्ध होसकता है। जिन द्रव्योंको हम औषध तुल्य समझ कर लेते हैं और किसी विशेष रोगावस्थामें लेते हैं, उस समय उनसे लाभ होता है। यदि शास्त्रीय पक्ष सही नहीं, तो औषध रूप द्रव्यसे लाभ नहीं होना चाहिये। परनहीं, इसके विपरीत जैसा कुछ शास्त्र आदेश करता है उसके अनुसार हम औषधियोंका वीर्य, प्रभाव देखते हैं; फिर किस तरह मानलेंकि इसमें सच्चाई नहीं। हम इसकाभी समाधान संक्षेपमें ही करेंगे।

ग्रन्थकारोंने द्रव्योंके परिपाक परिणामको वीर्य माना है। जो भुक्त-द्रव्य, रस बनकर शरीरमें सात्म्य रूपको प्राप्तहो जाते है, जिनकी किसी विशेष शक्तिका हमें ज्ञान नहीं होता, उन्हें शास्त्र सौम्य वीर्य कहता है। पर जिन द्रव्योंका विपाक होकर रस बने और उसका सात्म्य रूप होनेके समय विशेष शक्तिके रूपमें अनुभवहो यथा—मांस भोजनके पश्चात् शरीरमें विशेष उष्णताका प्रतीत होना। चावलोंकी सीतल माड़ीमें या तक्र पीनेसे शरीरमें शैत्य प्रधान चिन्होंका प्रादुर्भाव होना, आदि— इसको वीर्य माना है। कुछ शास्त्रोंका मत है कि वीर्यसे अभिप्राय द्रव्योंकी गुणमयी शक्तिसे है, यह ठीकभी प्रतीत होता है। क्योंकि, शीतउष्ण नामसे दो भिन्न २ शक्ति नहीं, जैसाकि हम पीछे पृष्ठ पर बतला चुके हैं। बल्कि, देखातो यह जाता है कि जो व्यक्ति निर्बल हैं, जिनकी शारीरिक शक्ति किसी रोगके कारण

या प्रकृति विरुद्ध आचरणके कारण क्षीणहो चुकी है, उन्हें साधारण खाद्य द्रव्य गेहूंकी रोटी, उर्दकी दाल, चनेका यूष, भी अत्यन्त उष्णवीर्य लगता है।

चनेका यूष पीतेही उसके परिपाक कालमें चित्त-आन्तरिक उष्णतासे व्याकुल होने लगता है। चांवल खानेसे शैताधिक्यके चिन्ह दिखाई देते हैं। पर जिनकी शारीरिक शक्ति बलवान् है, अर्थात् शरीर निरोग है; वह अण्डे, मांस आदि उष्ण वीर्य कहलाने वाले द्रव्य काफी मात्रामें खाजाते हैं, गर्मीके दिनोंमें खाजाते हैं। उन्हें इनकी उष्ण वीर्यताका कोई मानतक नहीं होता। वास्तवमें यह शीतता या उष्णता पदार्थोंकी शक्तिपर उतनी निर्भर नहीं, जितनी कि अपनी शारीरिक शक्तिके साथ सम्बंधितहै। यह किसी से छिपा नहीं कि हमारे शरीरका उत्ताप सदाही एक निश्चित सीमाके भीतर बना रहता है। और इससे भिन्न यदि किसी बाह्य कारणसे या आन्तरिक कारण द्वारा उद्भूत उत्ताप या शीत शरीर पर प्रभाव डालें, तो शरीरमें यह क्षमता देखी जाती है कि वह इसे रोके—शरीरमें एक निश्चितसे अधिक उत्तापको या शीतको बढ़ने न दे। स्वस्थ शरीर इसप्रकृति स्थापनीया शक्तिसे परिवद्ध पाया जाता है; पर रोगी या प्रकृति विरुद्ध व्यभिचारी मनुष्य अपने आचरणके कारण इस शक्तिको नष्ट कर देता है। इसीलिये उसका शरीर साधारणसे साधारण शीतोष्ण पदार्थोंसे प्रभावित होता है।

यह सब को ज्ञात है कि हमारे शरीरका उत्तापमान स्वस्थावस्थामें ६८।। फारन हेट निश्चित है। जिसका स्पष्ट अभिप्राय

यह है कि हमारे शरीरमें सदा एक स्थिर अनुपातमें उत्ताप बना रहता है। जिस बाह्य या अन्तरिक द्रव्योंका उत्ताप-परिपाक कालमें उत्पन्न होता है—शरीरके स्थिर उत्तापके समतुल्य हो तो हमें उसका कोई मान नहीं हो सकता। यदि बाह्य प्रभाव या आन्तिरिक प्रभाव शरीरस्थ उत्तापसे न्यूनाधिक हो तो उसका पता शरीरदे देता है। आप इसको बाह्य व अन्तर दोनों स्थानों में परीक्षा ले सकते हैं। यथा—प्रथम एक उष्ण जल जिसका उत्ताप ९८॥ फा० से ऊपर हो, एक तरफ रखिये, और दूसरी ओर उक्त उत्तापसे नीचे का सीतल जल रखिये। एकही हाथ की भिन्न २ अंगुलियां एक साथ उन दोनोंमें डालिये, आपको अनुभव होगा कि एक जल शीतल है दूसरा उष्ण। इससे स्पष्ट है कि जो वस्तु हमारे शरीरके उत्तापसे कम उत्तापकी है, वह स्पर्शसे सीतल लगेगी, जो अधिक उष्ण हैं, वह स्पर्शसे उष्ण लगेगी। इसी प्रकार खाद्य द्रव्य भी-जो शरीरमें जाकर भिन्न २ मात्रामें उत्ताप सजनक हैं उनकी उत्ताप मात्राको मालूम करके यदि उचित अनुपातमें सेवन करें तो हमको परिपाक कालमें इनके प्रभावका कोई अनुभव न होगा। यदि अधिक शीत, उष्ण-कारी पदार्थोंका सेवन किया जाय तो उनके शीत, उष्णत्वका अनुभव होता है, इसको आप नाप करभी देख सकते हैं। इस तरह शीत, उष्णही भिन्न शक्ति नहीं। प्रत्युत हमारे शरीरकी अपेक्षासे मानी जाने वाली उष्णताकी कमीका नाम शीत तथा उष्णताकी वृद्धिका नाम उष्ण है। और रोगावस्थामें जबकि शरीर निर्बल होता है, उत्तापकी मात्रा घटी हुई होती है, उस

समय उक्त सीत, उष्ण प्रकृतिको वैद्य इसलिये देखते हैं—कि जो वस्तु इसे-दी जानेवाली है, वह यदि अधिक उष्णता उत्पादक है और शरीरकी प्रकृतिभी उष्ण हो तो-ऐसी औषधके या द्रव्यके देनेका परिणाम यह होगाकि शरीरका उत्ताप और बढकर ज्वरका रूप धारण करलेगा। इसीलिये उस अवस्थामें एसे उत्ताप सजनक द्रव्य न देकर उसके विपरीत शीत—उत्पादक द्रव्योंकी योजना करते हैं। जिससे शरीरकी प्रकृति साम्यावस्थामें आजाता है। इस शीतोष्णका सम्बन्ध किसी औषध जन्य वीर्य विशेषसे नहीं। यह द्रव्योंका न्यूनाधिक उत्ताप सजनन धर्म माना जा सकता है। जिसको द्रव्योंका एक साधारण गुणभी कह सकते हैं। हां यदि वीर्यको द्रव्योंका गुणही माना जाय तो सीतोष्ण ही उसके दो गुण नहीं माने जासकते, प्रत्युत और गुणोंके साथ इन दोनोंको भी गिना जा सकता है। इस अवस्थामें यदि इनको द्रव्योंका साधारण गुण मानलेंतो फिर शीतोष्ण नामसे द्विधावीर्य शक्ति भिन्न नहीं रह जाती, प्रत्युत यह उन २० गुणोंके अन्तर्गत आ जातेहैं।

हमने तो जहा तक समझा है इसपर बिचार करनेसे इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि वीर्य और गुण पर्य्याय अर्थमें ही लगते हैं। हम पीछे गुणोंके विवेचनमें बतला चुके हैं कि जिनको शास्त्रकारोंने बीस गुण माने हैं वह वास्तवमें बीस नहीं, दस ही बनते हैं। दूसरे; यदि परिपाक कालिक अवस्थाको लेकर इन गुणोंका-अर्थ लगावें कि यह द्रव्य पचनकालमें भारी है, गरिष्ट है, यह द्रव्य पचनकाल-में हलका है, शीघ्र पाची है, यह शरीरके उत्तापसे सीतल है,. यह उष्ण है, इसके सेवनसे शरीरमें चिकनाई या स्निग्धता

उत्पन्न होती है, यह द्रव्य शरीरमें रुक्षता उत्पन्न करता है यदि यही इनका अर्थ हो तो मन्द, स्थिर, मृदु, कठिन, विशद, खर, सूक्ष्म, स्थूलका क्या अर्थ लगेगा ? मन्दसे क्या कहीं यह अभिप्राय तो नहीं, कि मन्दकारी द्रव्यके सेवनसे शरीरमें मन्दता (सुस्ती) आती है, या द्रव्य भी मन्द २ परिपाकित होता, या शरीरमें मन्द गतिसे चलता है ? यदि प्रथम अर्थको सही माना जाय तो कुछ अंशमें उक्त अर्थ लग सकता है । पर पश्चात्‌के दोनों ही भावार्थ सही नहीं माने जा सकते । यदि द्रव्योंका मन्द २ परिपाक माना जाय तो इसका अर्थ देरमें पचनेवाला, भारी, गुरु ही होगा । गुरुमे मन्दता भिन्न अर्थ बोधक नहीं । यदि मन्द-गति से माना जाय तो शरीरमें जब तक स्वाभाविक कोई ऐसा विकार न उत्पन्न हो जाय जो शारीरिक क्रियाको रोकदे, तब तक कोई भी द्रव्य न तो परिपाक कालमें मन्द गतिसे बढ़ते विश्लेषित होते देखे जाते हैं, न परिपाकके पश्चात् परिभ्रमणकाल में । इसी प्रकार स्थिरताका अर्थ यदि यह लगाया जाय कि इस द्रव्यके सेवन करने पर यह उदरमें पहुंचकर स्थिर हो जाता है, आगे नहीं बढ़ता या शरीरकी गतिको स्थिर कर देता है, तो यह दोनों ही अर्थ असगत पड़ते हैं । न तो कोई द्रव्य खानेके पश्चात् शरीरमें स्थिर ही रहते हैं, न उनसे शरीरकी क्रिया ही स्थिर होती है । यद्यपि, वह मारक न हो । अब कठिनका अर्थ देखिए:—कई द्रव्य खाने में कठोर हो सकते हैं, जो दांतोंसे न टूटने वाले हों । पर इस कठिनताका यह अर्थ लिया जाय तो यह पदार्थोंका आन्तरिक गुण नहीं माना जा सकता । हां पदार्थोंका वाह्य भौतिक गुण अवश्य है ।

विशदका अर्थ उज्वल सफेद पारदर्शक होता है। यह गुण भी पदार्थोंके सेवनके पश्चात् भी शरीरमें नहीं देखा जाता। यदि यह माना जाय कि विशदतासे अभिप्राय बुद्धिकी विशदतासे है। अर्थात् इसके सेवनसे बुद्धि उज्वल हो जाती है, तो इस अंशमें इसको अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु जब परीक्षासे इसका यह गुण देखा जाय, तब। ग्रन्थकार विषोंमें विषदताका होना बतलाते हैं। यह गुण शरीरमें जाकर किस रूपमें स्फुट होता है, आज तक किसी भी विष भक्षी प्राणीमें नहीं देखा गया, न किसी वैद्यने ही बतलाया है।

खर—खरका अभिप्राय स्पर्शमें खरदरापनसे है, जो चिकना न हो उसे खर कहते हैं। यह भी पदार्थोंका वाह्य भौतिक गुण माना जा सकता है। इसका भी आन्तरिक अर्थ कोई नहीं निकलता। न कोई ग्रन्थकार ही बतलाता है।

सूक्ष्म—सूक्ष्मताका अर्थ है बारीकपन। यदि द्रव्योंमें सूक्ष्मताका अर्थ यह लिया जाय कि कुछ द्रव्य सेवनके पश्चात् सूक्ष्म रूपसे शरीरमें फैलते हैं। यह सूक्ष्म प्रभाव कैसे देखा जाता है? दूसरे यदि इसको सही मान भी लिया जाय तो, यह गुण किसी एक द्रव्य विशेषका नहीं माना जा सकता। प्रत्येक खाद्य द्रव्य शरीरमें पहुंच सूक्ष्म रूप ही फैलते या अवयवोंके काम आते हैं।

स्थूल—स्थूलताका अर्थ मोटापन है। क्या यह कुछद्रव्य खानेके पश्चात् शरीरको मोटा करते हैं? या स्वयम् स्थूल होजाते हैं? शरीरको मोटा करनातो ठीकहो सकता है, दूसरे अर्थकी संगति नहीं लगती। इसीप्रकार सान्द्र द्रव, श्लक्ष्ण, सर आदि

और गुणोंको द्रव्योंका जिस २ रूपमें गुणरूप होना मानाजाता है, हमारे सामने शास्त्र कोई स्पष्ट रूपसे इसका विवेचन नहीं रखता । हां, प्रयोगोंसे इन्हें हम द्रव्योंकी परीक्षाके लिये भौतिक गुण अवश्य मान सकते हैं । भौतिक गुण क्या है ? प्रसंगवश हम इस पर भी विचार कर लेते हैं ।

संसारके प्रत्येक पदार्थको हमदो प्रकारसे जान सकते हैं एक भौतिक गुणसे, दूसरे उसके रसायनिक गुणोंसे ।

भौतिक

पदार्थोंके भौतिक गुणोंको जाननेके लिये हमारे पास पांच ज्ञानेन्द्रिया हैं—नेत्र, नासिका, जिह्वा, कर्ण, और त्वचा । यही भौतिक गुणोंके परीक्षक हैं । यथा —

१. आंखोंसे देखना—पदार्थ कठिन है या द्रवरूप, सूक्ष्म है या दृश्यसे परेकी वस्तु है । उसका वर्ण क्या है ? विशद है या मलिन । यदि विशद है तो कितना, मलिन या वर्ण युक्त है तो कितना ?

२. नासिकासे सूंघना । सुगन्ध या दुर्गन्ध नामसे दो प्रकारकी गन्धोंका हमने विभेद किया हुआ है । कई अदृश्य वस्तुओंको हम गन्धसे जानते हैं ।

३. जिह्वासे स्वाद प्राप्त करना । हम जब मीठा, खट्टा, तीक्ष्ण, कटु, निमकीन आदि पदार्थोंके स्वाद पाते हैं तो इससे पता लगाते हैं कि इसका स्वाद कैसा है ।

४. कानसे सुनना । धातुओं काष्ठ पत्थरोंकी ध्वनि तथा और अनेक प्रकारकी ध्वनिसे उक्त पदार्थको जानना ।

५. स्पर्शसे जानना। गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठिन, खर, श्लक्ष्ण आदि रूपवाली वस्तुओंको स्पर्शसे जानना। इससे भिन्न—सान्द्र, पिच्छल, कण, युक्त, चूर्ण, भजन शील वर्द्धनीय आदि गुणोंकी परिक्षा भी हम अपनी उक्त मिश्रित ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियोंके द्वारा करते रहते हैं, कि अमुक धातु या कोई और द्रव्य कौन २ सा भौतिक गुण रखता है। भौतिक गुणसे अभिप्राय हमारे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय जन्य पदार्थोंकी भौतिक परिज्ञासे है। हम चांदीको वर्णमें स्वेत देखते है, स्वेतता चांदीका देखनेमे भौतिक गुण कहलाता है। हाथके स्पर्शसे कठिन है। कठिनता इसका दूसरा गुण स्पर्शसे ज्ञात होता है। पीटने कूटने पर यह टूटती नहीं, घन वर्द्धनीय है, यह इसका तीसरा गुण है। इसी तरह जल द्रव है, सर है, विशद है, ऐसा जब हम कहते हैं तो इसका स्पष्ठ अभिप्राय यह है कि—हम उक्त भौतिक गुणोंको अपनी पच ज्ञानेन्द्रियोंसे जानते हैं। इसके अतिरिक्त जब हम अनेक पदार्थोंके रूपमें परिवर्तन आता देखते हैं, यथा जल गर्मी पाकर वाष्प बन जाता है और वही द्रव रूप जल फिर वाष्प बनने पर अदृश्य होजाता है, सर्दी अधिक पड़ने पर जम जमकर बरफ बन जाता है। चांदी सोना ठोस हैं, गलाने पर यह भी द्रव हो जाते है। गन्धक गलने पर द्रव हो जाता है, पर तेज अग्नि पर जलने लगता है और वाष्प बन कर उड़ जाता है। जब वायव्य रूपमें गन्धक होता है तो इसकी गन्ध असह्य होती है। लोहेका वर्ण श्यामता युक्त स्वेत होता है अधिक गरम करने पर इसका वर्ण लाल अगार वत्

होजाता है। ठंडा होने पर फिर वह पूर्वावस्थामें आजाता है। इस प्रकार हम अनेक पदार्थोंमें परिवर्त्तन होता देखते हैं। पदार्थों का इस तरह परिवर्त्तन जिसे हम अपनी पन्च ज्ञानेन्द्रियों से देखते व जानते हैं, यह सभी पदार्थोंके परिवर्त्तन शील या स्थिर भौतिक गुण कहाते हैं।

रसायनिक गुण

१ लकडी, मोमवत्ती, तेल, घृत, कपूरको हम जलाते हैं। इनके जल जाने पर इनका उक्त रूप हमारी नजरोंसे अन्तर्ध्यान होजाता है। यह कैसे होता है? इसका उत्तर एक यही हमारे पास है कि यह पदार्थ जल जाते हैं? लकडी, मोमवत्ती, तेल, आदिके जलनेके वाद यदि हम चाहेंकि उक्त जले हुए अवशेष अशसे पुनः लकडी, मोमवर्त्ती, तेल आदि किसी प्रकार प्राप्त करलें, तो हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं जिससे पुनः पूर्व रूपमें लासकें। वास्तवमें देखा जायतो इनका पूर्व रूप जलनेके समय मिटजाता है। हम शाक, पत्र, गेहू, दाल, फल जो खाते हैं, परिपाक कालके पश्चात् इनकाभी असली रूप एक प्रकारसे मिट जाता है। यदि हम उक्त परिपाकित- द्रव्यको पुनः पूर्व रूपमें लानेकी चेष्टा करें, तो उनको किसी विधि सेभी पूर्व रूपमें नहीं ला सकते। पूर्व रूपमें लानातो दूर रहा, हम इनको भौतिकीय साधारण विधिसे जानभी नहीं सकते कि इनका परिपाकके पश्चात् क्या २ वन जाता है। और जव कभी इन्हें जाननेकी चेष्टा करते हैं तो इनको जाननेके लिये हमें विशेष साधन प्राप्त करने पडते हैं। तेल और मोमवत्तीके जलाने पर

या भोजनके परिपाक होने पर उक्त पदार्थोंका जो रूप बनता है वह उनका रसायनिक परिवर्तन कहलाता है। इस समय जो उसमें गुण उत्पन्न हो जाते हैं, वह रसायनिक गुण कहलाते हैं। जिसका भौतिक विधिसे जानना कठिन है। हम इसका एक उदाहरण देते हैं। यथा---पारा एक श्वेत चमकदार धातु है, गन्धक पीला। दोनोंकी कज्जली बनाकर शीशीमें डाल उसे जब अग्नि पर पकाते हैं तो—उसपरिपाक कालमें एक तीसरी वस्तु बनती है, जिसे रससिन्दूर या सिंगरफ कहते हैं। यह तीसरा पदार्थ न पारे जैसा श्वेत है,न गन्धक जैसा पीला,प्रत्युत यह रक्त वर्ण होताहै। न इसमें अब केवल पारेके गुण हैं, न गधकके। बल्कि, यह उक्त दोनों पदार्थोंके गुणोंसे स्वभाव, प्रभावमें भिन्न देखा जाता है। यह पारे व गन्धकसे तीसरा पदार्थ किसतरह बनगया? इसमें क्या२परिवर्त्तन आया? इसके गुणोंमें कैसे परिवर्त्तन होगया? हमको यह बातें अपने पच ज्ञानद्रियोंसे लाख चेष्टा करने पर भी कोई पता नहीं लगता। हम इन भौतिक शक्तियोंसे इसका कोई प्रत्यक्ष बोध नहीं कर पाते। इसीलिये इसको जाननेके लिये हमें विशेष विधियोंको काममें लाना पड़ता है। जिनका नाम रसायनिक विधि (विश्लेषण करना, विशेष विधिसे तोलना और गणितसे मान निकालना तथा अन्य विधिसे जानना आदि) है। इस प्रकार पदार्थोंमें अनेकों परिवर्त्तन आकर जो पदार्थोंके रूप, गुण, स्वभाव बदल जाते हैं वह सब रसायनिक परिवर्त्तन कहलाते हैं।

यह रसायनिक परिवर्तन कैसे आते रहते हैं इसके भी दो चार उदाहरण देंगे।

कई वस्तुएं वायुमें, जलमें पड़ी रहने पर उनमें परिवर्तन आता रहता है। जैसे—लोहा बाहर हवामें खुला पड़ा रहने पर उस पर मोरचा लग जाता है। कई सैंधजम्, चूनजम् आदि धातुएं खुली हवामें जल उठती हैं और अपना असली रूप व गुण खो देती हैं। जिस लोहे को मोरचा लग जाता है उसमें लोहेके गुण नहीं रहते। गन्धकके तेजाबी घोलमें यशदके पत्र डाल दें तो इसमें एक प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है, उस घोलसे उदजन वायु निकलने लगता है। जब यह प्रक्रिया पूरी होजाय तो फिर उसमेंसे आप यशद निकालें तो आपको यशद अपने असली रूपमें नहीं मिलेगा, बल्कि वह श्वेत चूर्ण रूपमें होगा और गन्धकसे संयुक्त मिलेगा। इसमें यशदका कोई गुण न होगा। इन परिवर्तनोंको हम उन भौतिक विधियोंसे नहीं जान सकते। इनकोभी विशेष विधि से जानना होता है। इसी प्रकार मैनसिल, पोटाश और गन्धक या गन्धक, शोरा मिलाकर चोट मारनेसे एक धड़ाका होता है और उसकसे खूब धुआं व आग निकल पड़ती है। यह क्यों ऐसा होता है? इसको हम भौतिक विधिसे नहीं जान सकते। यहां भी हमें रसायनिक विधिसे काम लेना पड़ता है। क्योंकि, उक्त बारूदके सम्मेलनमें चोट लगाने पर इनमें रसायनिक परिवर्तन होता है और उस बारूदसे वायव्य जनित होता है। इसीसे इन दोनोंका सम्मिलित वायव्य एक नया ही गुण युक्त यौगिक होता है, जिसको हम विशेष विधिसे ही जानसकते हैं। सुनारोंकी दुकान पर या निआरियेके यहां मिश्रित धातुओंसे सोना, चांदी भिन्न करते समय आपने देखा होगा, यहां भी वह भिन्न २ तेजाबमें

भिन्न २ धातुएं डालकर एक धातुसे दूसरी धातुको शुद्ध रूपमें प्राप्त करता है। इस परिवर्तनको भी हम भौतिक विधिसे नहीं जान सकते। इसको भी रसायनिक विधिसे ही जाना जाता है। हां, कभी २ हम इस परिवर्तन कालमें उसके चिन्होंको अवश्य देख सकते हैं। यथा—

रसायनिक परिवर्त्तनके चिन्ह

यद्यपि किसी पदार्थमें होनेवाले परिवर्त्तन को देखकर यह निश्चित रूपसे तो बतलाना कठिन बात है कि इसमें होने वाला परिवर्त्तन भौतिक है या रसायनिक। तथापि स्थूल रूपसे दोनोंके परिवर्त्तनोंमें अवश्य अन्तर देखा जाता है। यहां पर हम रसायनिक परिवर्त्तनके कुछ चिन्हों को देते हैं। (१) रसायनिक परिवर्त्तन का सबसे पहिला चिन्ह यह है कि जब उस पदार्थमें रसायनिक परिवर्त्तन आरहा हो तो उसका बहुधा तापक्रम बढ़जाता है या घट जाता है। पूर्व रूपमें नहीं रहता है। अर्थात् रसायनिक परिवर्त्तनके समय तापक्रममें परिवर्त्तन अवश्य आता है। (२) दूसरे परिवर्त्तनके पश्चात् घोलोंका या पदार्थोंका तन (घेरा) का मानभी बदल जाता है। (३) कुछ घोलोंके रसायनिक परिवर्त्तनमें कुछ पदार्थ अवक्षेपित भी होते हैं। (४) कई पदार्थोंको पानीमें डालने या अग्नि पर रखनेसे उसमें से कोई न कोई वायव्य भी सजनित होता है। (५) कई रसायनिक परिवर्त्तन इतने सूक्ष्म होते हैं कि उक्त प्रक्रियामें कईयों का पता नहींलगता, पर पदार्थका वर्ण बदलजाता है। जिसको देखकर कहा जासकता है कि इसमें कोई न कोई रसायनिक परिवर्त्तन

आवश्यक हुआ है। इस प्रकार यह कुछ स्थूल रसायनिक परिवर्तनके चिन्ह दिये हैं। इसप्रकारके रसायनिक व्यापारको जाननेकेलिये हमारे यहां साधन कितने थे ? हमें किसीभी प्राचीन ग्रन्थमें इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। न पदार्थोंके रसायनिक गुणोंको जाननेके लियेही कोई साधन उपलब्ध थे। हमारी आयुर्वैदिक चिकित्सामें पदार्थोंके भौतिक गुणोंकोही जाननेके साधन दिखाई पड़ते हैं या अनेक द्रव्योंके सेवनसे उनकाजो परिणाम हमें उक्त व्यक्तिके द्वारा बताने पर मालूम हुआ, उसकोही आधार मानकर उसी आधार पर हमने द्रव्योंके गुण, प्रभावकी कल्पनाकी और यही हमारे प्रयोगका एक स्थल रहा है। उक्त विवेचनसे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि जो शास्त्र ने द्रव्योंके बीस गुण माने हैं वह वास्तवमें पदार्थोंके भौतिक गुण हैं। इनका पदार्थोंके रसायनिक गुणोंसे कोईभी सम्बन्ध नहीं। इन्हीं भौतिक गुणोंके अन्तर्गत शीतउष्ण वीर्य नामक गुणभी आजाते हैं। अब रहा प्रभाव, यह अवश्यही द्रव्योंका रसायनिक गुण माना जा सकता है। अब, हम इसी अचिन्त्य शक्ति (प्रभाव) पर कुछ विचार करेंगे। प्रसग वस इन विषयोंको कुछ लिखना पड़ा, वास्तवमें यह इस लेखके विषय नहीं थे।

प्रभाव क्या है

शास्त्र कहता है कि —'ज्वरहन्ति शिरो बध्दा सहदेवी जटा यथा'। शीत ज्वरके पूर्व सहदेवीकी जड़ बाध लेने पर ज्वर नहीं आता या ज्वर जाता रहता है। यहा तो न औषधका सेवन किया गया, न ज्वर स्थल पर इसका वाह्याभ्यान्तरिक कोई प्रत्यक्ष उपयोग

हुआ है। हां केवल शरीरके किसी भागमें सहदेवीकी जटाके धारण से ज्वर जाता रहा। इसके सम्बन्धमें शास्त्र कहता है कि यह अचिन्त्य कर्म है, जिसको हम देख नहीं सकते, इसीका नाम प्रभाव है। अनेक औषध या द्रव्य किसी अज्ञात रूपमें जो अपना कर्म करते हैं जिस तक हमारी भौतिक इन्द्रियां व मनकी पहुंच नहीं, वह सब अचिन्त्य कर्म हैं, और यही द्रव्योंका गुण व प्रभाव कहलाता है। शास्त्र कहता है इसी गुणोद्भूत प्रभावके कारण अनेक द्रव्य अनेक रोगोंका शमन करते हैं, उन सबको हम प्रकट रूपसे नहीं जान सकते। यहां पर विचारणीय बात यह है कि जो पूर्वकालमें चिन्तनाके परेकी बात थी, जिसका उन्होंने प्रभाव नाम दिया, क्या उसको आज भी उसी रूपमें माना जाय? क्या इसको अचिन्त्य समझा जाय? या इसकी खोज की जाय?

आजकल जिस द्रुत गतिसे हमारा ज्ञान, विज्ञानमें परिणत हो रहा है। पूर्वकालकी बड़ीसे बड़ी अचिन्त्य बात आज हमारी चिन्तनाओंका स्थल बनी हुई हैं, ऐसा अवसर पाकर कोई भी विचारवान् उक्त आप्त वाक्य या अन्ध श्रद्धा पर कभी दृढ नहीं रह सकता। जब उसके सामने विज्ञानका प्रबल वैद्युतिक प्रकाश जगमगा रहा है और उस प्रकाशमें उसकी नेत्र शक्ति सूक्ष्मसे सूक्ष्म वस्तुको अच्छी तरह देख सकती है तो कोई कारण नहीं कि वह आंख मीचे बैठा रहे। सच्चाईको प्राप्त करना हर एक व्यक्तिका कर्त्तव्य होना चाहिये, न कि अन्ध विश्वासकी अज्ञानमय अवस्थामें ही अपनेको बनाये रखना चाहिये।

इस समय सूक्ष्मसे सूक्ष्म द्रव्योंके आन्तरिक गुणोंको जानने के लिए हमारे पास अनेक रसायनिक साधन उपलब्ध हो चुके हैं और उनके द्वारा अनेक स्थावर, जगम वर्गके द्रव्योंको विश्लेषण करके उनकी आन्तरिक रचनाको तथा उनके गुण, स्वभाव, प्रभाव को अच्छी तरह देखा जा रहा है और उनको अच्छी तरह उपयोग करके उनके स्वभाव, गुणको जान लिया गया है। ऐसी दशामें द्रव्योंके प्रभावको अचिन्त्य मानकर चुप रहना—यथा पूर्व भावनाओं पर दृढ़ बने रहना—समय नहीं आज्ञादेता।

एक व्यक्तिको ज्वर हुआ, वैद्यने ज्वरके कारणको जानकर सहदेवीका मूल उखाड़कर उसके गले या बांह पर बांध दिया। उसका ज्वर जाता रहा। वैसे इस औषधने ज्वर पर अपना असर दिखलाया? इसको यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। परन्तु, इस वनस्पतिके मूलमें कौन २ से द्रव्य हैं, उन द्रव्योंमें कौन सा ऐसा द्रव्य है जिसने ज्वरको नष्ट करनेका काम किया। इसको इस समय अनुसन्धानसे मालूम किया जा सकता है। यह प्रभाव या असर अचिन्त्य नहीं। यह किसीसे छिपा नहीं कि इस समय अनेक रोगोंकी चिकित्सा वैद्युतिक साधनसे की जाती है। विद्युत कोई खाद्यपेय या त्वक्स्पर्शी पदार्थ नहीं, परन्तु विद्युत धाराका शरीर पर प्रबल असर देखा जाता है। चर, अचर प्रत्येक सजीव प्राणीमें भी वैद्युतिक शक्ति है, वनस्पति संसारमें भी इसकी विद्यमानताके काफी प्रमाण दिये जा सकते हैं। वनस्पतियोंमें प्रभावकारी द्रव्य विशेष वैद्युतिक शक्ति सम्पन्न पाये गये हैं। जिनकी सूक्ष्मतम मात्रा स्पर्शसे, गन्धसे शरीरके भीतर पहुंचती

है और इनका प्रभाव होता है। यदि सहदेवीमें गन्ध विशेषसे ज्वर मुञ्चनकी शक्ति है, जैसे—कुनैनमें विषम ज्वरी जैवोंके नाश की, तो इस प्रभावको अचिन्त्य नहीं माना जा सकता। इस समय सहदेवीके अन्दर इस शक्तिको ढूंढा जा सकता है। इसी तरह किसी भी द्रव्यमें रोग नाशक, या शरीर सम्बर्द्धक, क्षमतादायक कोई भी शक्ति हो उसको जाना जा सकता है।

इस समय इस विषयके सम्बन्धमें जो अनुसन्धान होरहे हैं उसको खुलासा लिखा जाय तो पुस्तक का आधा स्थान इसी एकके लिये चाहिये। इसीलिये संक्षेपमें हम इस पर कुछ लिखेंगे। आयुर्वेदमें प्राचीन कालसे अधिक तर बनस्पतियोंका ही उपयोग होता चला आया है। पश्चात् कुछ खनिज द्रव्योंको भी उपयोगमें लाया गया। इन सबका शरीर पर क्या २ प्रभाव होता है? इसका थोड़ा बहुत क्रम रहित वर्णन हमें निघण्टुओंमें मिलता है। अनेक द्रव्योंके जो गुण, प्रभाव देखे गये हैं, उसके संक्षेपमें ही सग्रहीत कर दिया गया है। किसी औषध या द्रव्य का शरीर पर क्रमसे क्या २ असर होताहै, इसका खुलासा कहीं नहीं मिलता। वास्तवमें देखा जाय तो उस समय इतने विस्तृत साधन उपलब्ध न थे। इसीलिये जो मनुष्यों पर उपयोग द्वारा मालूम किया गया उसको उस समय की विचार शैलीके अनुसार संकलित करलिया गया। अब आकर इस समय—जितना पूर्वका ज्ञान धीरे २ विज्ञानमें परिणत हो रहा है। उसने हमारे सामने एक नया ही अनुसन्धान का क्रम और उससे प्राप्त परिणाम ला रक्खे हैं। जिसका क्रम अधिक स्पष्ट तथा प्राच्य शैलीसे भिन्न है।

उसकी प्रयोग द्वारा प्राप्त सच्चाईको देखकर प्रत्येक सुधारक अपने हृदयमें अनुभव करता है कि प्राचीन उक्त शैलीमें अवश्य ही संशोधनकी आवश्यकता है। इस समय अनुसन्धानसे वनस्पतियों में किन २ मुख्य पदार्थों की उपस्थिति पाई गई है तथा उनका शरीर पर क्या २ गुण, प्रभाव होता है इसका कुछ स्पष्टी कारण देते हैं।

वनस्पतियोंमें क्या २ पदार्थ होते है

इस पृथ्वी पर भिन्न २ वनस्पातियां कोई २० लाखसे ऊपर मिल चुकी हैं । वर्गी करण करने पर शताधिक वर्ग इनके देखे गये हैं। वर्गोका अभिप्राय वंशमूलसे है । इनमें से जिनको हम खाद्य समझ कर उपयोग करते हैं वह, दूसरे जिनको हम औषध समझ कर उपयोग करते हैं, इन दोनों प्रकार की वनस्पतियोंकी शरीर रचना तथा उनमें बनने वाले अनेक खाद्य व औषध तुल्य द्रव्यों पर काफी अनुसन्धान हो चुका है । और इनमें विद्यमान अनेक भिन्न २ द्रव्यों को अनेक रसायनिक विधिसे भिन्न कर लिया गया है और उनका इस समय काफी उपयोग होरहा है। अब तक जितनेभी वनस्पतियोंके अंगिक विश्लेषण किये जा चुके हैं, सबोंमें निम्न लिखित वस्तुऐं पाई जाती हैं।

१. अण्डसित् व जीवनीय तत्व—इसमें कज्जल, उदजन, ऊष्मजन, पवन और गन्धक स्फुट यह छः तत्व मुख्य देखे जाते हैं।

२. वल्कलोज व शार्करी गोंद, राल—इसमें कज्जल, उदजन, और ऊष्मजन तीन तत्व पाये जाते हैं।

३. उद कज्जलिद—इसमें उद्वायी, अनुद्वायी दो प्रकार के स्नेही द्रव्य हैं। जिनमें उदजन, कज्जल और ऊष्मजन तीन तत्व पाये जाते हैं।

४. भिन्न २ लवण—जिसमें पांशुजम्, चूनजम्, कान्तम्, लोहम् स्फुटके लवण मुख्य हैं तथा सैंधजम्, मगनम्, शैलिकाके लवण गौण रूपमें पाये जाते हैं। जिसमें धातुओंके साथ लवण-जन, नैलिका तथा उदजन, पवन, गन्धक, कज्जल आदि का सयोग हुआ रहता है।

यह कुल १४-१५ तत्व संसारकी वनस्पतियोंके मूल घटक हैं। इनमें से संख्या एक दोके अण्डसित् व शार्करी पदार्थ प्राणीमात्रके खाद्य द्रव्य हैं। इन्हीं वनस्पतियोंके अंगपर चर संसारका निर्वाह है। जो प्राणी मांस भक्षी हैं, वह भी उन्हीं प्राणियोंको खाते हैं जिनका जीवन वनस्पतियों पर निर्भर है।

जिन तत्वोंसे उक्त वस्तुएं बनती हैं। इन्हीं तत्वोंसे वनस्पतियों के भीतर कुछ ऐसी वस्तुएं भी बनती हैं जिनको हम औषधके तुल्य व्यवहारमें लाते हैं। यद्यपि यह वस्तुएं किसी विशेष तत्वों से निर्मित नहीं, प्रत्युत जैसा कि हमने पीछेकी पक्तियों पर अहिफेनिया, अहिफेनिन, खुरासीन, चिरायतिन, धतूरिन आदिको जिन सूत्रोंसे प्रदर्शित किया है, वह सब तत्व आपके खाद्यमें उपयोजित हो चुके हैं। यथा—कज्जल, उदजन, ऊष्मजन, पवन आदि। हां खाद्य द्रव्यों और औषध द्रव्योंमें कोई अन्तर है तो उनके रसायनिक संगठनका ही है। यही नहीं बल्कि, औषध

तुल्य द्रव्योंके रासायनिक संगठन इतने निगूढ हैं कि उन्हें पूर्ण-तया यथा स्थान निश्चित करना कठिन है । जिन औषध तुल्य द्रव्योंको वनस्पतियां अपने भीतर निर्माण करती हैं यह क्रम भी बड़ा निगूढ़ है। वनस्पतियोंमें प्रायः औषध रूप द्रव्यकी प्रथमावस्था-अम्लके रूपमें होती है । अर्थात् अम्ल रूपमें उक्त द्रव्य संचित होते हैं और वह अम्ल विशाम्ल कहाते हैं। तत्पश्चात् उनसे तन-विषों, जन-विषोंका अत्यन्त सूक्ष्म रूप निर्मित होता है । हरी वनस्पतियोंमें प्राय. उक्त विष अम्ल विषोंमें ही रहते है। और हम इसी रूपमें इसका उपयोग करते हैं । यही इनका गुणदायी भाग होता है, जो भिन्न करने पर उक्त गुण रूप भाग बहुत न्यून मिलता है। यही पृथक् हुआ गुण रूप अंश है जो हमारे लिए औषधका काम देता है। इसीके प्रभावसे हम अनेकों रोगों द्वारा अपनी रक्षा करते हैं।

वनस्पतियोंमें गुण द्रव्योंकी रचना का कारण है ?

जितनीभी आप चर सृष्टि देखते हैं, इनमेंसे ऐसा एकभी प्राणी आपको न मिलेगा जिसका कोई न कोई शत्रु न हो। इससे भिन्न अनेक प्राणीतो अपने आहारार्थ दूसरे प्राणियोंकी सदा तलाशमें ही देखे जाते हैं। इसीलिये चाहे कोई निर्बल प्राणी हो या सबल,हरएक को अपनी रक्षाकी चिन्ता पहिले रहती है। इसीके परिणाम स्वरूप प्रत्येक प्राणीने अपने शरीरमें यथा शक्य कोई न कोई अंग ऐसे विकसित किये हैं जो शत्रुसे बचानेके निमित्त काम आरहे हैं। दूसरे उसे कहीं २ वे उदर पूर्तिके अर्थभी

काम देते हैं। यथा—पशुओंके सींग, सर्पके विषदन्द, बिच्छू, मधु मक्खीका डंक, छछूंदर की गन्ध। साही या कंटक चूहेमें लम्बे लम्बे कांटे आदि। यह सबमें ही प्रायः संरक्षणके अर्थही अधिक काम आते हैं, भोजन प्राप्तिमें इनका उपयोग बहुत न्यून पाया जाता हैं। जिस प्रकार चर संसार शत्रुसे बचनेके अनेक साधन रखता है, इसी प्रकार वनस्पति संसारनेभी कोई न कोई एसे साधन उपलब्ध किये हुए है। संसारमें वनस्पतियोंके शत्रु बहुत हैं इसीलिये इन्हें अपनेको शत्रुओंसे बचानेकी महान् चेष्टा करनी पड़ी। जिनका निर्वाह कहीं न हुआ उसनेही वनस्पतिकी ओर अपना मुंह बढ़ाया। जब वनस्पति सृष्टिने देखा कि चारों ओरसे हमें खानेवाले चिमटे हुए हैं, इन्हें अपने जीवनके लाले दिखाई पड़े, तो इन्होंने अपने जीवनको बचानेकी महान् चेष्टाएं कीं। सबसे प्रथम हरएकने अपने वंशको स्थिर रखनेके लिये वेगसे वंश वृद्धिका क्रम आरम्भ किया। दूसरे—इससे भिन्न अनेकों और मार्ग भी वनस्पतियोंने प्रकृतिकी सहायतासे ढूंढ निकाले यथा—किसीने अपने शरीरको इतना बढ़ाया कि जहां तक कोई साधरण प्राणी पहुंचही न सके।

किसीने अपने पत्तों पर कांटे उत्पन्न किये, किसीने अपने अंगमें गन्ध उत्पन्नकी। कितनोंही ने अपने फलों पर विषाक्त रोएं उत्पन्न किये, किसीने कठोर वल्कल आदि उत्पन्न किये। किसीने अपने भीतर अनेक प्रकारके विषोंका प्रादुर्भाव किया। इत्यादि, इस तरह उन्होंने अपने संरक्षणके अनेक मार्ग ढूंढ निकाले। यह तो रही वाह्य शत्रुकी बात इससे भिन्न शीत, उष्ण, वर्षा, वायु आदि, जिसका हानिकर असर सदा ही उन पर होता चला

आ रहा था, इनसे बचनेके लिए भी उन्होंने अपने शरीरमें अनेकों प्रकारके साधन उपलब्ध किये। इन्हीं साधनोंको—आज हम अपनी विशेष आनुभवजनित शक्तिसे—जान कर उन्हें निजी जीवन को सुरक्षित बनानेके अर्थ उपयोगमें ला रहे हैं। यही सब वस्तुएं इस समय हमारे सामने औषधके रूपमें विद्यमान हैं।

वनस्पतियों में गुण द्रव्य निर्माण की क्रिया

इन औषध स्वरूप द्रव्यों का निर्माण वनस्पति कैसे करते हैं? कई वैद्य समझते होंगे कि सम्भव है इस बात तक आधुनिक विज्ञान न पहुचा हो, यह बात नहीं। इस समय इसका अनुसन्धान बड़ी ही सूक्ष्मताके साथ किया जा रहा है और इस समय जो परिणाम हमारे माने हैं वह बहुत ही विश्वस्त हैं।

यह इस समय किसीसे छिपा नहीं कि वनस्पतियां अपना खाद्य द्रव्य जितना भूमिसे नहीं लेती, उससे कहीं अधिक वायुसे लेती है। वायुमें कज्जल द्विऊष्मिद नामक प्राणियोंके प्रश्वास द्वारा त्यागा हुआ एक वायव्य विद्यमान रहता है। इस वायव्यमें का कज्जल वनस्पतियों का मुख्य भोजन है।

कज्जल द्विऊष्मिद नामक वायव्य एक यौगिक पदार्थ है इससे वनस्पतिया केवल कज्जलको ले लेती हैं और ऊष्मजनका त्याग कर देती है। यह व्यापार वह किस प्रकार सम्पादन करती हैं? अनुसन्धान करने पर ज्ञात हुआ है कि—वनस्पतियोंके हरे पत्ते इस कार्यको सूर्यरश्मिकी सहायतासे सम्पादन करते हैं।

जब तक वनस्पतियोंके पत्तोंके हराग भागको प्रकाश रश्मि प्राप्त होती रहती है, तब तक तो उक्त वायव्यका रसायानिक विश्लेषण होता रहता है और इस कब्जलकी वनस्पतियोंके भीतर स्थित जल से सयोग होकर उससे पिपील मधनार्द्र बनता है, जिससे पुनः आगे चलकर इससे कज्जल उदेत अर्थात् एक शार्करिद, द्विशार्करिद, बहु शार्करिद (माड़ी) आदि पदार्थ क्रमसे बनते हैं।

एक ओर कब्जल द्वारा यह मुख्य भोजन तय्यार होता रहता है, इसीके साथ दूसरी ओर पवनेतके लवण या पवनियां आदि—जो जलमें घुलेहुय वनस्पतिमें पत्रों तक पहुंचते हैं, यह घुले पाशुज लवण या पवनिद जब पत्रकोष्ठोंमें प्रवेश करते हैं, तो उक्त विधिवत् ही प्रकाश रश्मिकी सहायतासे पत्रोंका हरांग भाग उक्त लवणोंका विश्लेषण कर कज्जल और जलके साथ इनका संयोग करा देता है। जिससे एक ओर पोष्यिद, असजिदादिक जीवनीय वर्गके यौगिक पदार्थोंकी रचना होती है,साथ२ अमृतकाभी निर्म्माण होताहै। जिससे असुर्य नामकी शक्ति उत्पन्न होती है इसी क्रममें दूसरी ओर मध्यके कुछ रसायनिक परिवर्त्तनोंके साथ २ तन-विष, जन-विषों का निर्म्माण होता है।

इन पदार्थोंके निर्म्माणमें आरम्भसे वनस्पतियोंके भीतर क्या २ परिवर्तन आते हैं। हम उसे एक सारणी द्वारा व्यक्त करते हैं।

वनस्पतियोंमें द्रव्य निम्मीण सारणी
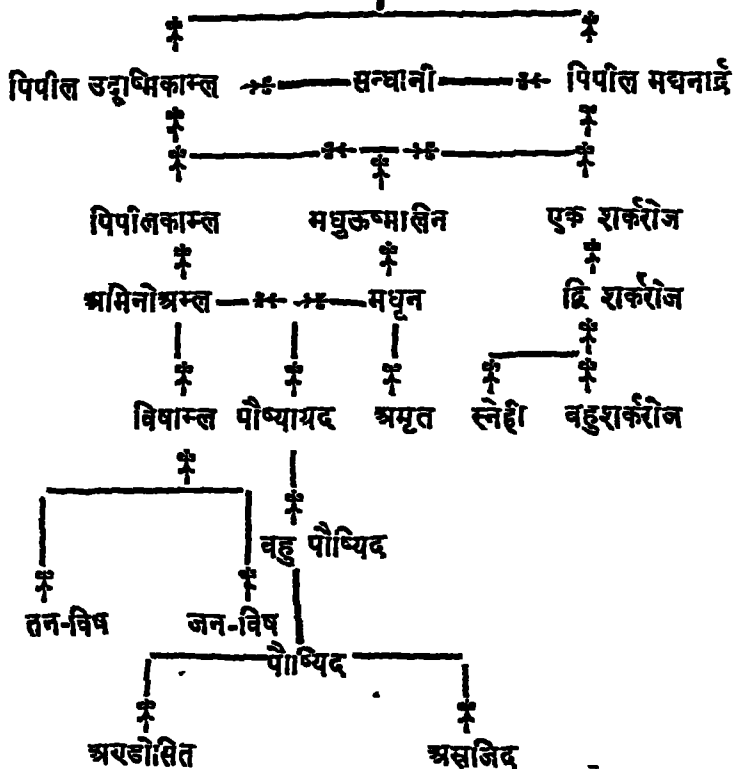
इस प्रकार वनस्पतियों को पृथिवीसे जल अनेक लवण तथा वायुसे कज्जल और सूर्य्यसे कुछ प्रकाश रश्मि मिलती है। इन तीनों वस्तुओंसे ही पत्रके उपहरांग व-हरांग भागमें क्रमसे रसायनिक परिवर्तन आना आरम्भ होता है, जिसके परिणाम स्वरूप उक्त पदार्थ बनते रहते हैं।

इस प्रकार जो वनस्पतियें अपने जीवनार्थ तन-विष, जन-विष उत्पन्न करके जीवनके रक्षार्थ कई विषमय द्रव्यों को अपने में संचित कर रखती थीं, उन्हें मानव प्राणी चिरकालिक अनुभव प्रताप से जान २ कर आज उन्हें उक्त अंगों से भिन्नकरने में समर्थ होगया है। जिन पदार्थोंका वनस्पतियोंने शत्रुओंसे रक्षाका अपने लिये साधन बनाया था वही हमारे लिये भी अब-अनेक जैवी शत्रुओं (जीवाणु, कीटाणुओं) से बचनेका सरल साधन बन गई है। यही वनस्पतियोंका गुण भाग है, यही प्रभावकारी या अमर वाला अंश है, जिसको ग्रन्थकार अचिन्त्य २ कहते चले आ रहे हैं।

गुण प्रभाव की व्याख्या में त्रुटि

आयुर्वैदिक निघण्टुओंमें औषधियों या द्रव्योंके गुण, स्वभाव, प्रभावका जो वर्णन दिया गया है वह पूर्व कालकी परिस्थितिके लिये चाहे क्रम युक्त हो, पर इस समय उससे हमारी विवर्द्धित आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। यथा-अत्रियजी गुण और प्रभाव के दृष्टान्त में कहते हैं कि—

कटुकः कटुकःपाके वीर्य्योष्णश्चित्रको मतः।
तद्दन्ती प्रभवात्तु विरेचयति मानवम् ॥

कुटकी या चित्रक रस में कटु स्वादी है इसका परिपाक भी कटु है, यह गुणों में भी उष्ण वीर्य्य है। जैसे गुणमें यह है, इसी प्रकार की दन्ती भी है। परन्तु दन्तीमें एक विशेष शक्ति है जिसके कारण वह सेवन करने पर रेचन लाती है। इसका नाम है प्रभाव।

अब कोई पूछे कि यह रेचनकारी शक्तिका वनस्पतिमें क्या रूप है? वह किस तरह शरीरमें जाकर रेचन कराती है? तो इस का समाधान प्राचीन ग्रन्थोंसे नहीं होता। इस समय जब दन्तीके भीतरसे रेचनकारी द्रव्य दन्तीनको भिन्न करके निकाल लिया गया है और यह भी जान लिया गया है कि यह दन्तीन जब अन्न प्रणाली में जाती है तो अन्त्राशयकी कला पर प्रदहन व प्रहर्षण उत्पन्न करती है, जिसके कारण अन्त्राशय उसको अपने पाससे हटाने की चेष्टा में गतिशील होता है, इसीसे रेचन आते हैं। जब व्यक्ति इतना अधिक बोध दन्तीके सम्बन्धमें प्राप्त कर सकता है तो भला वह कब इसी पर सन्तोष कर लेगा कि दन्तीमें यह विशेष प्रभाव है कि रेचन कराती है। बस और कुछ न जाने।

गुण, प्रभावके सम्बन्धमें इस समयजो ज्ञान प्राप्तहो चुका है उसको आधुनिक क्रमसे सबको समझाना चाहिये।

प्रत्येक खाद्य द्रव्यके इस समय तीन विभाग बनाये गये हैं। (१) एक वह जो शरीरके पोषणका काम देते हैं, उन्हें पोष्य द्रव्य कहते हैं। पोष्य द्रव्य शरीरमें पहुंचकर उत्तापभी उत्पन्न करते हैं और शरीरके उत्तापको स्थिर बनाये रखनेमें सहायताभी करते हैं। (२) दूसरे वह द्रव्य जो शरीरकी अव्यवस्थि दशाको पूर्वरूपमें

लाते हैं। पहिले प्रकारके द्रव्योंको पौष्य गुण-प्रद, उत्ताप गुण-प्रद तथा तीसरेको विशेष गुण-प्रद द्रव्य कहा जाता है। इस समय विशेष गुण-प्रद द्रव्योंका अच्छी तरह अनुसन्धान होरहा है। और इसबात को मालूम किया जारहा है कि किस द्रव्यमें कौन सा गुणकारी अंश है। उसका शरीरके किस अंग पर क्या प्रभाव होता है। तथा रोगावस्थामें इसकी कौन २ सी क्रियाऐं अनुकूल व प्रतिकूल होती हैं। अवयवी शरीर पर इसका क्या प्रभाव है? तथा जैवी शरीर पर क्या प्रभाव होता है। इन सब बातों को जानकर भिन्न २ औषधियोंके गुण प्रभावानुसार इस समय पदार्थोंका वर्गी करण होरहा है। यथा—शीतोत्पादक द्रव्य या ज्वर मुंचक द्रव्य, उष्णता उत्पादक द्रव्य, विषनाशक द्रव्य, जैवघ्न (कीटाणु जीवाणु नाशक) द्रव्य, सम्वेदना—नाशक-द्रव्य, सम्मूर्छक-द्रव्य, रेचक—द्रव्य मूत्रल—द्रव्य, प्रतिविषोत्पादक-द्रव्य, क्षमता-दायक द्रव्य, अंगहर्षक द्रव्य, गति-वर्द्धक-द्रव्य, आदि अनेकों विभाग बन गये हैं।

इसमेंसे यदि आप शीतोत्पादक द्रव्योंको लेंगेतो उनमें आपको दिखाई देगा कि इनके सेवनसे शरीरका उत्ताप घटकर शरीरमें सीतलता उत्पन्न होजाती है।

भिन्न २ द्रव्य, भिन्न २ विधि द्वारा शरीरके उत्तापको घटाते हैं। कई द्रव्य प्रस्वेद लाकर उत्तापको कम करते हैं। कई द्रव्य शरीरकी ऊष्मीकरण क्रियाको शिथिल कर उत्तापका संजनन क्रम मन्द कर देते हैं। कई स्नायु मण्डलकी गतिको शिथिल करके ज्वर कम देते है। कई अवयवोंकी गति को मन्द करके शरीरमें शीतोत्पादनके कारण होते हैं। यह सब ज्वरघ्न कहाते हैं। यथा—

एएटी फेब्रीन, एसप्रीन आदि। इसप्रकार के वर्गीकरणका हमें स्पष्ट ज्ञानहोना चाहिये। गुण, प्रभाव विवेचनका यह स्थल नहीं, इसलिये इस विषयका केवल दिग्दर्शन मात्र कराया है।

प्रकृति वाद और त्रिदोष

उक्त विवेचन को पढ़ने के पश्चात् भी अनेक आयुर्वेद प्रेमी यह कभी भी माननेके लिए तय्यार न होंगे कि जो सिद्धान्त आज तीन हजार वर्ष हुए स्थापित हुआ था, जिसकी सच्चाई का डंका चिकित्सक संसारमें आज भी बज रहा है, जिसके आधार पर भारत में १ लाखके लग भग तथा फारस, मिश्र, ईरान व तुर्किस्तानादि में यूनानी चिकित्साके अनुयायी कोई चार लाखके लग भग चिकित्सा करते हैं, वह सिद्धान्त—जैसा कि निराधार दिखाया गया है—केवल कल्पना की खोखली भूमि पर खड़ा नहीं। बल्कि, इसमें सचाई है। अवश्य कोई दृढ़ सैद्धान्तिक रहस्य है। जिस तक लेखक पहुंच नहीं सका। यह बात नहीं। जिस आधार पर त्रिदोष-वाद आज खड़ा है, जिसके लिये आज इसको व्यवहारमें लाया जाता है और जिस तरह लाया जाता है। हम उस विषय को अब स्पष्टतया वैद्योंके सामने रखते हैं। जभी त्रिदोष-सिद्धान्त की वास्तविकता समझ में आसकती है; इस तरह नहीं।

प्रकृति क्या है?

यह किसी भी चिकित्सकसे छिपा नहीं कि जब २ वह किसी रोगीको देखनेके लिये जाता है तो सर्व प्रथम रोगीके, दर्शन, स्पर्शनसे रोगका हाल मालूम करता है। साथ ही रोगीकी दशा भी

देखता जाता है और रोगका इतिहास,कारण आदिको पूंछ २ कर या परिस्थिति द्वारा देखकर मालूम करताहै । वैद्य,रोग विनिश्चय तकतो त्रिदोषको ज्योतिषके फलादेश वत् ही त्रिदोषके सिद्धान्तोंको स्मरण रखकर उसी आधार पर इसका फलादेश कह जाता है । कि अमुक चिन्ह वात प्रधान है, अमुक चिन्ह पित्त प्रधान या त्रिदोष प्रधान है आदि २ रोग विनिश्चयके पश्चात् जब औषध व्यवस्थाकी वारी आती है, तो वहा इस त्रिदोष नामधारी सिद्धान्तको कुछ स्थान प्राप्त होता है। रोगी या रोगी के परिवार वाले चिकित्सकको कहते हैं । हमने अमुक चिकित्सककी दवा ला करदी,उससेतो इतनी गर्मी बढी कि रोगीको बारम्बार तृषा लगने लगी, ज्वर होगया, बेचैनीके मारे सारी रात नहीं सोया । इसके पश्चात् यूनानी चिकित्सक आया उसने रोगीको देखा और जो औषध उसने दी उसकी तो एक ही मात्रासे गजब होगया । औषध खानेके थोडी देर वाद ही शरीरमें दर्द होने लगा, सन्धिस्थल जुड गये, ज्वर क्या उतरा शरीर ही बिलकुल ठण्डा पड गया । जायफल,केशर,कस्तूरी आदि उष्णद्रव्य खानेको दियेगये तब कहीं जाकर रोगीकी दशा कुछ सुधरी । इसीलिये आप इसको ऐसी औषध दें जो न तो गर्म हो, न अधिक शीतल । बल्कि सौम्य प्रकृति हो । इस समय वैद्य रोगीकी उक्त प्रकृतिको देखता है, तथा उस समय उक्त प्रकृतिके अनुकूल औषध निश्चित करता है । अपनी ओरसे तो वह रोगीकी प्रकृतिपर तथा औषधकी प्रकृतिपर दृष्टि डालता है,कि इसे कौनसा ऐसा रस दूं–जो न अधिक वातकारी हो, न पित वर्द्धक, प्रत्युत सात्म्य रूप पड़े । इस विचार कल्पनामें अपवाद–रूप त्रिदोष उसके सामने रहते हैं । परन्तु

विचार कर देखने से हर एक वैद्य को पता लग सकता है कि इस समय हम रोगोंके लिये जबकि औषध का निश्चय करने लगते हैं—वास्तवमें वात, पित, श्लेष्म को नहीं देखते, बल्कि उस रोगावस्थामें विद्यमान रोगी के प्रकृति–बल को देखते हैं, कि इस समय इसका प्रकृति-बल कैसा है।

प्रकृति-बलसे अभिप्राय शरीरकी सह्य-शक्ति, क्षमता-शक्ति से है। हम पीछे बतला चुके हैं कि हमारा जीवन किसी निश्चित उत्ताप पर स्थिर है। जिसका तापमान ९८॥ फारन हैट निश्चित है। किसी रोगके कारण या परिस्थिति प्रभावसे जब इसमें अन्तर आता है तो हम अपनेको रुग्णावस्थामें पाते हैं। न्यूनाधिक उत्ताप होते ही शरीरकी विद्यमान प्रकृतिमें अन्तर आ जाता है। उस तरह जब तक शरीर स्वस्थ रहता है तबतक तो शरीरमें यह समर्थ पाई जाती हैं कि खाद्यपेय द्रव्यों द्वारा जनित शरीरान्तर्गत उत्ताप और बाह्य उत्ताप आदि से तो वह सदा प्रभावित होने पर भी–शरीरके उत्तापकी मात्राको एक निश्चित मानपर सदा बनाये रखता है। इसीका नाम है प्रकृति बल। पर जब कोई व्यक्ति किसी खाद्य, पेय पदार्थोंसे या जान्तविक कारणोंसे अथवा परिस्थिति प्रभावसे इतना अधिक प्रभावित होता है कि उसके शरीरका प्रकृति-बल साम्यावस्थामें नहीं रह सकता, क्षय होजाता है; तब शरीरमें विशेष शीत, उष्णका रूप दृष्टि गोचर होने लगता है। ऐसी दशामें उनका वह पूर्वका भोजन भी शरीर पर अपना विशेष प्रभाव दिखाता है। जिसका अधिकतर मान उसी शीतोष्ण के रूपमें ही होता है। इसीलिए वैद्य उस रोगी व्यक्ति

में जिस त्रिदोषकी कल्पना करके चिकित्सा करता है, वास्तव में वह रोगीका इस त्रिदोष नामके सिद्धान्त द्वारा प्रकृति-बल देखता है।

क्योंकि रोगी निर्बल है तो माषकी दाल, चनेकी दालका पचाना उसके लिये कठिन होता है। इनके खानेसे कुपाच्य हो जाता है इससे मिचलन व अधिक उत्ताप वृद्धि आदिके चिन्ह प्रादुर्भूव होते हैं ऐसी अवस्था में चिकित्सक इन वस्तुओंको नहीं देता। मूंगका यूष, पटोल का यूष, चनेका यूष आदि देकर उसकी प्रकृतिको पूर्ववस्था में लानेकी चेष्टा करता है। औषधियां भी इसी व्यवस्थाके अनुसार निश्चितकी जाती है। वैद्य यद्यपि इस प्रकृति-बलको सही रूपमें समझते हैं और शीतोष्ण प्रभावका वास्तविक अर्थभी समझते हैं। परन्तु इसको प्राचीन वैद्य त्रिदोषके भीतर खींच लेगये हैं और उसको आधार मान कर इसेजो समझनेका क्रम निकाला है, हर एक वैद्य को उसी क्रमके अनुसार शीतोष्णको वात, श्लेष्म और पित्तके अन्तर्गत्त करके समझना पड़ता है। यही नहीं, प्रत्युत शरीरकी प्रकृतिकोभी त्रिदोषके साचेमें ढाल दिया गया है।

वास्तवमें वैद्य रोगीमें—रोगावस्थामें—जिस त्रिदोष—नामकी कल्पनिक शक्तिको देखता है, वह दरअसलमें रोगीकी प्रकृति होती है—जो-रोगावस्थामें बदल जाती है—घट, बढ़ जाती है। इस शारीरिक प्रकृतिमें न तो वातका हाथ होता है, न पित्तका, न श्लेष्मका। बल्कि यह रोगीके प्रकृति बलको देखकर कल्पित कर लेते हैं।

शरीरकी बनावट और त्रिदोष

इसी प्रकार शरीर की बनावटमेंभी किसी दोषका होना सिद्ध नहीं होता।

यह जो आत्रेय जी ने कहा है कि—

समपित्तानिलकफः केचिद्गर्भादि मानवाः
दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा।
दोषानुशयिता ह्येषा देह प्रकृतिरुच्यते ॥

भावार्थ—दोषोंके अनुसार कोई पुरुष गर्भमें आने पर समान प्रकृति वाले होते हैं, कोई अधिक वात-प्रकृति, कोई पित्त-प्रकृति और कोई श्लेष्म प्रकृति होते हैं। दोषों की अधिकताके अनुसार इनको देह प्रकृति नाम दिया है।

जिसका शरीर दृढ़ है, कृश है, बल कम है शरीरमें कभी स्फुरण होता है, उष्ण पदार्थोंके सेवनसे सुखी रहता है, बाल शरीर पर बहुत हैं, निद्रा कम लेता है तो कहते हैं कि यह वात प्रकृतिका मनुष्य है। जो व्यक्ति शीतल पदार्थोंके सेवनसें सुखी रहता है, नींद कम आती हैं, शरीर अत्यन्त कृश है, वर्ण गौर है, चंचल बुद्धि है, उसे कहते हैं कि यह पित्त प्रकृतिका मनुष्य है। इसी तरह जिसका शरीर अधिक स्थूल है, सुस्त रहता है, मन्द बुद्धि है, अधिक नींद आती है, वीर्यकी अधिकता है तो उसे कहते हैं कि यह श्लेष्म प्रकृतिका मनुष्य है। क्या यह ठीक है? हरगिज़ नहीं। शरीरका दृढ़ होना या सुकुमार होना यह वात प्रकृतिका चिन्ह नहीं। जो व्यक्ति व्यायाम नहीं करते, वह प्राय:

सुकुमार होते हैं। व्यायाम करने वालोंका शरीर दृढ हो जाता है। शरीरका कृश होना यह भी कोई वात प्रकृतिका चिन्ह नहीं। कई व्यक्तियोंको बाल्यकालसे ही किसी अन्न प्रणाली सम्बन्धी ऐसी व्याधि हो जाती है जिसके कारण परिपाक ठीक २ नहीं होता, पौष्टिक पदार्थोंकी मात्रा शरीरान्तर्गत समुचित न पहुंचने से शरीर परिपुष्ट नहीं हो पाता। शरीरमें बलकी कमीमें भी उक्त दोनों ही कारण लागू हैं। अर्थात् व्यायाम न करने वाले व्यक्ति भी प्रायः निर्बल देखे जाते हैं। इसी तरह रुग्णका निर्बल होना तो साधारण बात है। उष्ण पदार्थोंका सेवन शरीर के अनुकूल पड़ना भी कोई वात प्रकृतिका चिन्ह नहीं। जो सक्षम हैं उन्हें उष्ण प्रकृतिके पदार्थ सदा ही अनुकूल पड़ा करते हैं। इसमें वात प्रकृतिके होने न होनेका कोई सम्बन्ध नहीं। शरीर पर घने बालोंका उत्पन्न होना, यह भी वात प्रकृतिका कारण नहीं, यह आनुवंशिक बात है। निद्रा कम लेना यह भी वात प्रकृतिका चिन्ह नहीं। जितने भी आविष्कारक लेखक व विशेष मानसिक परिश्रमी व्यक्ति हैं सब न्यून ही सोते हैं। न्यूनाधिक सोना अभ्यासके कारण है, न कि वात प्रकृतिके कारण। इसी प्रकार जिन व्यक्तियोंको शीतल वस्तुएं अधिक प्रिय हैं, इसका कारण पित्त प्रकृति होना नहीं। प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति किसी सूक्ष्म व्याधिमें ग्रसित रहते है, जिनके भीतर विकार स्वाभाविकतया अधिक उत्ताप सञ्जनन करते रहते हैं। अर्थात् कुछ स्वाभाविक और कुछ अस्वाभाविक—विकारी कारण—से उत्ताप अधिक बनता रहता है, ऐसे व्यक्तियोंको शीत पदार्थोंके

सेवनसे सुख मिलता है। यह किसी पित्त प्रकृतिका परिणाम नहीं। नींदका न्यून आनाभी प्रकृतिके कारण नहीं। शरीरकी कृशतामें भी अच्छी खाद्य सामग्रीका अभाव, चिन्ता, शोक रोगादि ही कारण हैं। गौर व श्याम वर्णता यह देश भेदके कारण मुख्यतया देखी जाती है। दूसरे पैत्रिक, संस्कार व शरीर संरक्षणसेभी इसका सम्बन्ध है। तीव्र बुद्धि होना पैत्रिक गुणोंके आश्रित है। इससे भिन्न गर्भ कालमें माताके जीवनका प्रभाव तथा स्वास्थ्य आदिभी विशेष कारण हैं। इसी तरह शरीरका स्थूल होना यह श्लेष्म प्रकृतिका चिन्ह नहीं। प्रत्युत जो व्यक्ति अच्छे स्निग्ध पदार्थ खाते हैं, व्यायाम नहीं करते या एक स्थान पर ही बैठे २ समय व्यतीत करते हैं, जिन्हें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं, वह प्रायः स्थूल शरीर हो जाते हैं। स्थूल शरीरी प्रायः सुस्त होते हैं, चंचलता स्वभाविकही जाती रहती है। ऐसे व्यक्ति सुस्तीके मारे या शरीरान्तर्गत भुक्त बोझसे दबे सदाही सोते रहतेहैं। इस शरीरकी स्थितिसे किसी वात, पित्त श्लेष्मका कोई सम्बन्ध नहीं। तो क्या कोई शारीरिक प्रकृति नहीं होती ? यह बात नहीं। स्वस्थ मनुष्य की प्रकृति ऐसी अच्छी होती है कि जो उसके-अनुकूल पदार्थ हैं वहतो अनुकूल सदा रहते ही हैं जो-प्रतिकूल होते हैं उनकोभी वह खाकर अपनी चामक शक्तिसे अनुकूल बना लेता है। इसीलिये स्वस्थ व्यक्ति पर प्रकृतिके अनुशीलनका समय कम आता है। प्रकृतिको देखनेका अवसर प्रायः रुग्णावस्था में ही आता है। रोगी होने पर शरीर में जो बल पूर्व था, वह जाता रहता है। शरीरके संरक्षणार्थ जिन वस्तुओंको

वह पूर्व कालमें खाता और अच्छी तरह पचा जाता था, अब वह वस्तुएं शरीरमें कोई न कोई विकार उत्पन्न करती हैं। विकारी शरीर जब अस्वास्थ्य दशामें हो, उस समय ही प्रकृतिका निरीक्षण किया जाता है। जबतक शरीर साम्यावस्था या पूर्वावस्थामें नहीं आता, तबतक—उपचारके समय—प्रकृतिको देखकर औषध व पथ्यकी व्यवस्थाकी जाती है।

इस तरह प्रकृतिसे यहां अभिप्राय शरीरके उस स्वभावसे लिया जाता है, जिसका सम्बन्ध दैनिक परिस्थिति से हो। कई व्यक्ति प्रकृति शब्द का स्वभावके अर्थमें व्यवहार करते हैं। ऐसा करना भूल है। स्वभाव का सम्बन्ध प्राणीके मानसिक विकारोंसे है। यथा क्रोधी, द्वेषी आदि स्वभाव। प्रकृतिका सम्बन्ध शरीरमें उत्पन्न होने वाली शीतोष्ण, रूक्ष, श्लक्ष्ण शक्तिसे है। आप देखते हैं कि हम नित्य जिन वस्तुओं को खाते चले आते हैं उन्हें बिना किसी कष्टके पचाकर शरीरकी क्षयवृद्धिमें काम लाते हैं। इन्हें खाकर पचालेने तक हमें किसी प्रकारकी शारीरिक बाधा नहीं होती। ऋतुओंके प्रभावसे भी हम अपने को कृत्रिम व्यवस्था द्वारा या समता द्वारा, बचाये रखते हैं। खाद्य, पेय द्रव्योंसे व ऋतुओंके प्रभावसे न हमें गर्मी सताती है, न सर्दी। पर जब हम रुग्णावस्थामें होते हैं तो उस समय हमारे लिये खान, पान की विशेष व्यवस्था होती है। बाह्य ऋतु प्रभावसे भी हमें विशेष बचाया जाता है। हमें जरा २ सी खान, पानकी वस्तुएं असह्य हो उठती हैं। तभी प्रकृतिको देखनेका समय आता है।

इस प्रकृतिसे अभिप्राय शरीरस्थ उस शीतोष्ण, रुक्ष, श्लक्ष्ण-मयी अवस्थासे है जो खाद्य, पेय द्रव्यों द्वारा शरीर पर प्रादुर्भूत होती रहती है। और जिससे शरीर प्रभावित होता रहता है। हम पीछे बतला चुके हैं कि हमारा शरीर एक निश्चित उत्ताप पर सदासे रहता चला आरहा है,जिसकी मात्रा फारनहैट तापमानसे ६८॥ कहीजाती है। अनेक व्यक्तियोंका तापमान सदा ६७ देखा जाता है। इनमेंसे कोईभी तापमान स्वस्थ दशामें रहे,वही उसका तापमान है। इस तापमानको स्थिर बनाये रखनेके लिये हमारा शरीर सदा चेष्टा करता रहता है। यदि किसी कारणसे शरीरका उत्ताप न्यूनाधिक होजाय तो उसी समय शरीर कष्टसे घिर जाता है और हम अपनेको दुखी देखते हैं।

जिस उत्तापसे हमारे जीवनका सम्बन्ध है। यह उत्ताप हमारे शरीरमें खाद्य द्रव्योंके रसायनिक परिवर्त्तनसे सदा ही उत्पन्न होता रहता है। भिन्न २ खाद्य द्रव्य, भिन्न २ तापमात्राके उत्पादक हैं। कौनसे खाद्य द्रव्य शरीरमें पहुच कर कितना २ उत्ताप सजनन-करते हैं, इसको अच्छी तरह नाप, जोख लिया गया है। हम इसकी संक्षिप्त सारणी देते हैं।

पदार्थों की उत्ताप संजनक मात्रा

पदार्थ	तपन-ताप प्रति औंसमें
दूध	१८
मलाई	५५
तक्र	१०
तेल जैतून	२५२

पदार्थ	तपन-ताप प्रति औंसमें
तेल सरसों	२१४
शक्कर	११३
शहद	९७
गुड़	८१
पुराना गुड ५ वर्ष का	१२६
गेहूं की रोटी	१०२
चावल	९९
दाल चना	१२०
दाल अरहर	११२
दाल उर्द	११३
दाल मसूर	११२
दाल मूंग	११३
बादाम	१८७
गरी	१६७
मुनक्का,	६०
खजूर	८१
सेब	१५
केला	११
अंगूर	१७
निम्बू	५
नारंगी	१२
नासपाती	१०

पदार्थ	तपन-ताप प्रति औंसमें
आम	२३
अनार	२
आलू	३६
प्याज़	१४
लहसुन	४०
गाजर	५
ककड़ी खीरा	३

यह एक औंस अर्थात् २॥ तोला पदार्थमें प्रति तपन (कलारी) मात्रा उत्ताप संजनन की दी है। जो पदार्थ जितना कम तपन उत्पन्न करते हैं वह उतने ही शीतल कहाते हैं। जो जितना ज्यादा तपनोत्पादक हैं वह उतने ही उष्ण पदार्थ कहाते हैं। पर यह तो हुई यन्त्र विधान की बात। हम किनको शीत और किनको उष्ण कहते हैं—इसको देखनेके लिये हमारा शरीर रूपी यन्त्रही पूर्वकालसे काममें लाया जाता रहा है। इस समयमें जो शरीरको उत्ताप मात्रासे जिसका उत्ताप न्यून रहता है, अर्थात् जिसके सेवनसे शरीरका उत्ताप कुछ घट जाता है या जिसके सेवनसे शरीरके स्थिर उत्तापको बनाये रखनेकी शक्ति नहीं मिलती, उन्हें हम शीतल कहते हैं। तथा जिन पदार्थोंके सेवनसे शरीरका उत्ताप अपनी अवस्थामें न रहकर कुछ बढ़ जाता है या जिन तपनीय पदार्थोंका प्रभाव शरीर पर प्रकट होता है, उन्हें हम उष्ण कहते हैं। इस तरह हम अपने शरीरकी अपेक्षासे पदार्थोंके दो विभाग शीत और उष्ण नामके बनाते हैं। जो वास्तवमें हमारी प्रकृतिके बोधक हैं। यह प्रकृति—जैसा कि

हम बतला चुके हैं—देशकाल और परिस्थिति प्रभावके अनुसार प्राणियोंकी व पदार्थोंकी प्रकृति सदा ही बदलती रहती है। यह बात नहीं, कि हमारे यहां अति शीत, उष्ण प्रकृतिको नहीं जानते थे। परन्तु जैसा कि हमने पीछे बताया है इसको जानकर इसका अर्थ शीतका वात, श्लेष्म में और उष्णका पित्तमें घटाते थे। यूनानी वाले यद्यपि त्रिदोषको मानते हैं, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने शीत, उष्ण, रुक्ष और तर नामसे चार प्रकार की प्रकृतिको द्रव्योंके आश्रित स्पष्ट माना है। माना ही नहीं प्रत्युत सूक्ष्मताके साथ इसे जानकर उनकी मात्राएं भी निकाली हैं, जिसको उन्होंने दर्जा (मात्रा) नामसे सम्बोधित किया है। उन्होंने शीतके चार दर्जे रक्खे है। इसी प्रकार उष्णताके भी चार दर्जे दिये है। कम शीतको एक दर्जेकी और अधिक शीतको चौथे दर्जेकी निश्चित किया है। इसी प्रकार कम उष्णको एक दर्जे पर उससे अधिकको दो दर्जेकी, उससे अधिकको तीन दर्जे पर और अत्यधिकको चौथे दर्जे पर रक्खा। इसी तरह रुक्ष व तरके भी उन्होंने दर्जे माने हैं। सुश्रुत व आत्रेय जीने भी इन चारोंको शरीरकी प्रकृति माना है। माना ही नहीं, बल्कि आत्रेय जी तो कहते हैं कि हम तो इसी प्रकृति-वादके आधार पर चिकित्सा क्रम निर्धारित करते हैं। और इसीसे हमें इसमें पूर्ण सफलता मिलती है। वह इसे अपना निजी अनुभव बताते हैं। यथा—

इदंचेदंचनः प्रत्यक्षम् यदनातुरेण भेषजं नातुरं चिकित्सामः क्षाममक्षामेन कृशं दुर्बल माप्याययामः।

स्थूलं मेदास्विनमपतर्पयामः । शीतेनोष्णाभिभूत-मुपचारयामः। शीताभिभूतमुष्णेन न्यूनान्धातून्पूरयामः व्यक्ति रिक्तान् ह्रासयामः व्याधीन्मूल विपर्ययेणापि चरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः तेषानस्तथा कुर्व्वतामयभेषज समुदायः कान्ततमो भवति ।

चरक सूत्र० अ० १०

आत्रेय जी कहते हैं कि यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है कि हम रोग ग्रस्त व्यक्तिकी ऐसी औषधसे चिकित्सा करते हैं जो रोगके विरुद्ध गुण रखती हों। क्षाम (रुक्ष) रोगीकी श्लक्ष्ण (तर) औषधियोंसे; कृश, दुर्बलकी स्निग्ध (तर) औषधियोंसे, स्थूल और मेदवान पुरुषकी रुक्ष औषधियोंसे, उष्णतासे प्रपीडित रोगीकी शीतोपचारसे, शीताविभूतकी उष्ण प्रकृति औषधियों से न्यून धातु पुरुष की पौष्टिक द्रव्यों से और श्लक्ष्ण प्रकृति के व्यक्तिकी रुक्ष प्रकृति औषधि से चिकित्सा करते हैं। इसप्रकार रोगीकी प्रकृतिके विपरीत प्रकृतिकी औषध देकर चिकित्सा करते हैं, जिससे उसकी प्रकृति सात्म्या-वस्थाको प्राप्त होजाती है। उक्त प्रमाणसे स्पष्ट है कि यह प्रकृति वाद कोई नया सिद्धान्त नहीं, प्रत्युत प्राचीन है। इसका व्यवहार करते समय रूप वही असली रहा, पर नाम रखलिया और। सुश्रुतने इसे स्वभाव माना, आत्रेय जी ने इसे आगे चलकर त्रिदोषके अन्तर्गत करदिया। वास्तवमें न यह स्वभाव है, न त्रिदोषका रूप। बल्कि इसे विद्यमान परिस्थिति प्रभाव जन्य प्रकृतिही कहना चाहिये। और

प्रकृतिसे अभिप्राय शरीर पर परिस्थिति प्रभावोद्भूत दशाका नाम ही समझना चाहिये। जबतक शरीरमें क्षमता रहती है, तबतक शरीर अपनेको परिस्थितिके अनुकूल बनाये रहता है, उस समय प्रकृतिको हम सात्म्य प्रकृतिस्थ कहते हैं। पर जब शरीर परिस्थिति प्रभावको सहन करनेमें असमर्थ होता है तो उस समय उस दशाको असात्म्य प्रकृति दशा कहते हैं। वह चार प्रकारकी हैं।

पदार्थोंकी प्रकृति और उनका प्रभाव।

हम जिन द्रव्योंको अपने जीवन निर्वाहार्थ खाते हैं उनमें दो प्रकारकी शक्ति होती है, एक पोषक, दूसरी शरीर रक्षक। द्रव्योंके जिस भागसे शरीरकी क्षय, पूर्ति व वृद्धि होती है उस भागका नाम पोषक है। तथा किसी शारीरिक कष्टके समय जब किसी द्रव्यका आश्रय लेकर कष्ट निवारण की चेष्टा करते हैं और उस द्रव्यसे हमारे शरीरका संरक्षण होता है ऐसेको हम संरक्षक द्रव्य कहते हैं। इसको द्रव्योंका विशेष गुण व प्रभाव भी कहते हैं। जितने भी खाद्य द्रव्य हम व्यवहारमें लाते हैं उनमें उक्त पोषक व रक्षक दोनों प्रकारकी शक्ति मिश्रित पाई जाती है। कोई भी खाद्य वर्ग का पदार्थ ऐसा नहीं, जिसमें केवल पोषक ही भाग हो, रक्षक भाग न हो; ऐसा नहीं देखा जाता। इसी प्रकार शुद्ध रक्षक वर्गके द्रव्य भी प्रकृतिमें नहीं मिलते। हां अब कृत्रिम विधिसे उन्हें अवश्य भिन्न कर लिया गया है।

यह दोनों प्रकारके द्रव्य जब खाये जाते हैं तो शरीर इनको अपने उपयोगमें लाते समय—इनकी पूर्व रसायनिक रचनाको

छिन्न भिन्न करके अनुकूल रूपमें बदल लेता है। उस समय इन द्रव्योंके रसायनिक परिवर्तन होनेपर वहां उत्ताप संजनन होता है। इस उत्तापको शरीर रक्त परिभ्रमण द्वारा स्थानन्तरित करता रहता है, और उत्तापकी मात्राको बढ़ने नहीं देता। यदि उत्ताप बढ़रहा हो और आन्तरिक शक्तिसे न रुकता हो, तो बाह्यसे तृषाके रूपमें सहायता मांगता है। उस समय हम जल, शर्बत आदि पीकर उस उत्तापको कम करनेके अर्थ उसकी मदद करते हैं।

हमने अपनी अनुभवी शक्तिसे कुछ खाद्य द्रव्य ऐसे चुन लिये हैं जिनमें पोषक भाग अधिक है उनसे जो उत्ताप सजन्न होता है वह प्रयः साधारण या सहनके योग्य रहता है। पर इनसे भिन्न और अनेक द्रव्योंमें यह बात नहीं। हमें अनेक वस्तुओंसे अधिक उत्ताप या शीत मिलता है। एसे द्रव्योंको हम रक्षणार्थही उपयोगमें लाते हैं अर्थात् जब अधिक गर्मी बढीहुई होती है तो केवड़े का शर्बत, सिकंजबीन, अनारका शर्बत आदि पीकर या अधिक जल सेवन कर उस उष्णताको सात्म्य रूपमें लाने की चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार जब शीत बढ़ता है तो सोंठ, गुड़, केशर, कस्तूरी आदि पदार्थोंको सेवन कर उस शीतके विपरीत द्रव्य खाकर प्रकृतिको सात्म्य रूपमें लानेका प्रयत्न करते हैं।

इस तरहसे द्रव्योंका शरीरमें जाकर जो रसायनिक परिवर्तन उत्पन्न होता है उस कारण जो न्यूनाधिक उत्ताप शरीरका हो जाता है हम उसे ठीक कर लेते हैं। शरीर उत्तापको न्यून करने वाले ऐसे द्रव्योंको शीत प्रकृति और शरीरसे अधिक उत्ताप उत्पन्न करनेवाले द्रव्योंको उष्ण प्रकृति पदार्थ

कहते हैं। इसी तरह जिन खाद्य द्रव्योंमें पोषक तत्व मेद-वर्द्धक व श्लेष्म वर्द्धक (पोष्यिद) पदार्थ अधिक हों, जिनके सेवन से शरीर सदा पौष्यिदों, असजिदोंसे लदा रहे, जिनके कारण शरीरमें श्लेषता या तरी (स्थूलता, अत्यधिक शरीर बर्द्धन) हो उन्हें श्लक्ष्ण प्रकृतिके पदार्थ कहते हैं। इसी प्रकार जिन खाद्य द्रव्योंमें या रक्षक द्रव्योंमें पौष्यिदों व असजिदोंकी मात्रा न हो या शरीरस्थ असजिदों, पौष्यिदोंकी बढी हुई मात्राको, जो घटा दें—अर्थात् जिनके सेवनसे शरीर कृश होने लगे, शरीरके प्रत्येक सजीव कोष जो पौष्यिदों व असाजिदोंके कारण फूल रहे थे, सूखने लग जावें, उनमें खाद्य सामग्रीकी मात्रा घट जाय, शरीर क्षीण हो जाय, ऐसे द्रव्योंको रूक्ष प्रकृतिके पदार्थ कहते हैं। इन्हीं पदार्थोंका शरीर पर जब २ जो प्रभाव होता है २ बना रहता है, उसका नाम भी शरीरकी प्रकृति पड़ता है। अर्थात जब शरीर किसी भी कारणसे असात्म्य प्रकृतिमें आता है, शरीरमें जब उष्णता, शीतलता, रूक्षता या श्लक्ष्णता आदि कोई भी विशेष प्रभावकारी भाग बना रहता है, जिसके कारण शरीरकी प्रकृति ठीक नहीं रहती, तो हम उस समय कहते हैं कि हमारे शरीरकी प्रकृति बिगड़ी हुई है, उसके शरीरमें अनेक चिन्ह देखेजाते हैं।

रोगावस्थाकी प्रकृति

चिकित्साकालमें वैद्य क्या करते हैं? यही, कि जब देखते हैं—शरीरकी प्रकृति उष्ण हैं, उसे शीत प्रकृतिके द्रव्य

देते हैं। जब देखते हैं कि शरीर रुक्ष प्रकृतिका है तो उस समय श्लक्ष्ण या तर प्रकृतिके पदार्थोंको देकर शरीरका पोषण करते हैं। इसी प्रकार मिली हुई प्रकृतिमें मिश्रित प्रकृतिके पदार्थ देते हैं। इस तरह, इस प्रकृतिवादको-रोग दशा आने पर हमें शरीरमें-देखनेकी आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि जिन पदार्थोंको हम खाते हैं उन सबोंमें उक्त प्रकृति या शक्ति विद्यमान रहती है। जब हम पदार्थोंमें विद्यमान प्रकृतिको अर्थात् उससे शरीरपर होने वाले पदार्थोंके प्रभावको जानते हों तो उनका उपयोगके समय उचित रूपमें व्यवहार कर सकते हैं।

द्रव्योंके उक्त शीतोष्ण, रुक्ष, श्लक्ष्ण प्रकृतिसे भिन्न गुण, प्रभाव और भिन्न शक्तियां हैं अर्थात् प्रत्येक द्रव्योंमें प्रकृति और गुण यह दो शक्तियां पाई जाती हैं। प्रभाव गुणके अन्तर्गत आजाता है। इसतरह जिस प्रकृति वादके असली रूपको विगाड़कर त्रिदोषका रूप दिया गयाथा, उसे अब अपने असली नामसे समझना चाहिये। शरीरकी अपेक्षामे न्यून ऊष्णताको शीत और अधिकको उष्णही कहना चाहिये, वात, पित्त, कफ नहीं।

भिन्न २ प्रकृतिके कुछ चिन्ह

शरीरकी प्रकृति दो कारणोंसे असात्म्य दशामें आती है। एक वैकारिक कारणसे, दूसरे जैवी या जान्तविक कारणसे। कोई भी कारण हो, जब शरीरको अपने प्रभावसे प्रभावित करता रहताहै तो उसके बने रहने पर शरीर क्षय होने लगता है। और उसके निम्न चिन्ह देखे जाते हैं—

उष्ण प्रकृति—रोगी कोई भी खाद्य द्रव्य सेवन करता है उसका पचन ठीक तौर पर नहीं होता । उसके पचनकालमें तृषा अधिक लगती है, शरीरमें बेचैनी बढ़ जाती है, कभी २ ज्वर भी हो जाता है । कइयोंको मूत्र दाह होता है । मूत्रका वर्ण लाल, पीला हो जाता है । कइयोंके नेत्रमें दाह होता है सिर, चकराता है, सिरमें गर्मीका विशेष प्रभाव प्रतीत होता है । कइयोंके हस्त पादमें दाह बना रहताहै, कइयोंको आंगिक दाह होता है, इसतरह अनेक लक्षण जिनको वैद्य पित्तके लक्षण मानते हैं, वह सब उष्ण प्रकृतिके चिन्हमें देखे जाते हैं । उष्ण प्रकृतिके व्यक्तिको कोई भी उष्ण प्रकृतिकी औषध नहीं देनी चाहिये ।

रूक्ष-प्रकृति—रुक्षता प्रायः उष्णताके साथ ही देखी जाती है । जब शरीरमें किसी द्रव्यका औष्मिक प्रभाव होता है तो उसके साथ ही रुक्षताभी बढ जाती है । इससे क्या होता है ? सर्व प्रथम श्लेष्मिक कला शुष्क होती है । जिससे नाक, मुंह के रन्ध्र भाग खुश्क हो जाते हैं, बारम्बार तृषाकी इच्छा बनी रहती है । यदि कोई विषाक्त प्रभाव शरीरके अवयवोंको प्रभावित कर रहा हो तो अवयवोंका जीवन मूल या जीवाद्यमकी मात्रा घटने लगजाती है । इससे शरीर क्षीण होजाता व सूखता जाता है । ऐसे समय शरीर निस्तेज, रुक्षत्वक्, स्वेत नेत्र युक्त हो जाता है । यह दशा प्राय. उष्णताके बढ़नेके साथ २ ही बढ़ती है । या रोग की वृद्धिके साथ २ शरीरकी प्रकृति भी रौक्षताकी ओर बढती ही चली जाती है ।

शीत प्रकृति—जब शरीर अधिक समय तक किसी रोग

से असित बना रहता है तो ऐसी दशामें शरीर सूखकर अत्यन्त कृश हो जाता है। शरीरकी पाचक शक्ति बहुत ही नष्ट हो जाती है। उस समय शीत प्रकृतिके चिन्ह देखे जाते हैं। ऐसा व्यक्ति जरा अधिक सीतल जल पीता है तो उससे अधिक मूत्र आता है, रोमाञ्च हो जाता है। चावल, तक आदि पदार्थोंके खानेमें शरीरमें पीड़ा होने लगती है। जितने सीतल द्रव्य कहाते हैं उनके सेवनसे उसे कष्ट तो होता ही है, इसके साथ अधिक उष्ण प्रकृतिके द्रव्य भी उसको हानि पहुंचाते हैं। एक दो दाने मुनक्का या छुहारेके खाते ही शरीरसे गर्मीकी चिनगारियां फूट निकलती है, व्याकुलता बढ़ जाती है, भूख बन्द हो जाती है, यहां तक कि शरीर और भी अव्यवस्थित दशामें जा पहुंचता है। कई ऐसे भी रोग देखे गये हैं, जिसमें विशेषकर मनुष्यकी शारीरिक व्यवस्था बिगड़ जाती है। और शरीर के रसायनिक कार्य व्यापार विपरीत रूप में होने लगते हैं। ऐसे समय शरीर में मूत्राम्ल, काष्टाम्ल आदि अनेक विषैले पदार्थ बढ़ जाते हैं, जो शीतधिक्यताके कारण शरीरसे बाहर नहीं निकलते। बल्कि शरीरमें ही जमने लग जाते हैं, इसीसे विशेष व्याधियां हो जाती है। यथा—सन्धिवात, आमवात, सर्वांगवात आदि।

श्लक्ष्ण-प्रकृति—शरीरमें तरी या पौष्टिक पदार्थोंकी मात्रा का अधिक बढ़ जाने या अधिक बने रहनेके कारण शरीरके सजीव-कोषोंका आकार बढ़ जाता है। या जिनमें ऐसे अयोग्य पदार्थ एकत्र होकर रहजाते हैं जो उनके काममें नहीं आते, वह फिर उनकी निर्बलताके कारण वहांसे हटाये नहीं जासकते। इससे

शरीर अधिक स्थूल हो जाता है। श्लेष्मिक कलासेभी श्लेष्मका स्राव होता रहताहै। ऐसे व्यक्तिको ऊष्म और रूक्षपदार्थ अधिक प्रिय लगते हैं। यही व्यक्ति श्लक्ष्ण प्रकृति कहाते हैं। श्लक्ष्ण प्रकृति व्यक्तिके शरीरमें वसा, असजिदीय व पौष्यद तथा श्लेषल पदार्थों की मात्रा अधिक बनी रहती है। इसके बने रहनेमें दो कारण हैं। एकतो उदरकी पाचन शक्तिके किसी रसका अधिक परिमाणमें बनना, जिससे परिपच्यलेहीमें ऐसे पदार्थोंकी मात्राका अधिक होना, जो रक्तमें जाकर अच्छी तरह सात्म्यरूप न प्राप्त हो सकते हों, प्रत्युत उसी तरह सजीव कोषोंमें पहुच,रुकने लगजांय या सचित होते रहें। यह दशाभी प्रायः शारीरके सूक्ष्म विकारोंके कारणही अधिक उत्पन्न होती हैं। या जो व्यक्ति बादाम, घृत आदि स्नेह वर्द्धक पदार्थ अधिक खातेहैं उनकी प्रकृतिभी कुछ ऐसीही सी होजातीहै।

वृक्करोगी, यकृतरोगी, हृदरोगीकी भी श्लक्ष्ण प्रकृति बन जाती है। क्योंकि इन अगोंके रोगी होने परभी शरीरके रक्त संशोधन व रक्त परिभ्रमणकी व्यवस्थामें बहुत कुछ अन्तर आजाता है, तभी शरीरमें तरी बढकर रोगी मेदसी होजाता है।

द्वन्दज प्रकृति—प्रायः देखा जाता है, जिन व्यक्तियोंकी प्रकृति उष्ण होतीहै उनकी केवल उष्ण ही नहीं होती, इसके साथ रूक्षताका मिश्रण भी अवश्य पाया जाता है। इसी प्रकार शीत प्रकृतिके साथ श्लक्ष्ण प्रकृतिका मिश्रणभी देखा जाता है। जिस तरह पदार्थोंमें इनका निकटतर सम्बन्ध देखनको मिलता है, उसी प्रकार यहां भी है। यथा—जो पदार्थ उष्णता उत्पादक हैं उनसे रूक्षताभी साथ २ उत्पन्न होती

है। जो शीत पदार्थ हैं उनमें श्लक्ष्णताकी प्रकृतिभी पाई जाती है। पर उष्णताके साथ शीतका सम्बन्ध नहीं देखाजाता। क्योंकि, यह परस्पर विपरीत धर्मी है। इसीतरह रूक्षताके विपरीत श्लक्ष्णता विपरीत धर्मी है। यथा:—

शीतेनोष्ण कृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः
येतु शीत कृतारोगास्तेषा चोष्णा भिषिज्यतम्।

चरक स०

अर्थ—उत्तम वैद्य उष्णतासे उत्पन्न रोगोंको शीत उपचार द्वारा शान्त करते हैं और शीतसे उत्पन्न रोगोंमें उष्ण क्रिया करते हैं।

इसीलिये रोगकी दशामें रोगका कारण एक भिन्न चीज है, और उक्त कारणसे प्रभावित शरीरकी प्रकृति एक भिन्न चीज है। इसलिये वैद्य रोगको दूर करनेके लिये रोग प्रतिरोधी औषधकी भिन्न व्यवस्था करता है। और प्रकृति को देखकर उसके अनुकूल खाद्य या पथ्यकी भिन्न व्यवस्था करता है।

यथा—उदाहरणके लिये विषमज्वर का एक रोगी आता है। शीत देकर उसे नित्य ज्वर चढता है। इस ज्वरके लक्षणोंसे वैद्यने निश्चित कर लिया कि यह विषमी जैवोंसे उद्भूत विषम ज्वर है। डाक्टरतो कुनैन देगा, पर वैद्य उसे सुदर्शन चूर्ण या ज्वरांकुश निश्चित करेगा। यह औषध तो ज्वरघ्न है, इनके सेवनसे ज्वर अवश्य ही नष्ट होजाता है। न यहा वातको देखने की आवश्यकता है, न पित्तको। ज्वरावस्थामें वमन द्वारा पित्त

का पात होना यह इस ज्वरका एक प्रधान लक्षण है। कोई विशेष पित्त ज्वर नहीं। उक्त औषध-तो रोगको लक्ष करके दीगई। पर अब रोगी कहता है कि मेरे अन्दर रोगके कारण गर्मी अधिक होरही है, बारम्बार तृषा लगती है, उष्ण पदार्थ विशेष गर्मी करते हैं। इसके लिये वैद्य इमली, निम्बू यवागू, लाजामण्ड आदि की व्यवस्था—उसकी प्रकृतिके अनुकूल—कर देता है, ताकि रोग शमन होनेके साथ २ इसकी विकृत प्रकृतिभी पूर्वावस्थामें आजाय। हम जिनको अनुपान कहते हैं, वह व्यवस्था प्रकृति को सात्म्य रूपमें लानेके अर्थ है, जो हमने औषधके साथ खाद्य द्रव्योंकी जोड़ रक्खी है। यह हमारे विशेष अनुभव का परिणाम है।

प्रकृतिमें परिवर्त्तन

रोगावस्थामें जब प्रकृति असात्म्य रहती है तो उसको ठीक करने या उसमें परिवर्तन लानेके अर्थ वैद्य प्रयत्न करता है। जब शरीर सात्म्य प्रकृति होता है तो उसे फिर किसी वैद्य को खान, पानके सम्बन्धमें पूछनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इस अवस्थामें वह अपनी क्षमतासे, अपनी प्रकृतिको सदा एक रूपमें बनाये रखता है। कभी २ सात्म्य प्रकृति व्यक्ति भी आवश्यकता पड़ने पर अपनी प्रकृतिको घटा बढ़ा लेता या परिवर्धन करलेता है। उदाहरण—मैं युक्त प्रान्तका निवासी हूं, अपने शहरमें जब तक रहा, तक्र कभी नहीं पिया। जब पंजाब प्रान्तमें आया—तो यहां प्रायः तक्र सेवनकी प्रथा है—मैं जब कभी तक्र पी लेता, उसी समय शीत प्रकोप होजाता।

और शरीरकी व्यवस्था बिगड़ जाती, भूख बन्द होजाती। पर पंजाब प्रान्तमें अधिक काल रहनेके कारण धीरे २ थोड़ा २ तक्र सेवन करते २ अब तक मेरी प्रकृतिके इतना अनुकूल होगया है कि रात्री को भी सेवन करता हूं, दहीभी रात्रीको खूब खाता हूं, पर अब इससे कभी कोई हानि नहीं होती। कई व्यक्ति अण्डे या मास नहीं खाते, वह जब कभी प्रथम २ खालेते हैं तो उसकी गर्मी उनके लिये असह्य होजाती है। शीतकालमें भी यह काफी उत्ताप संजनक होते हैं, इसी कारण उन दिनोंमी ऐसे व्यक्ति मांस सेवनकी गर्मीसे घबरा उठते हैं। पर हम देखते है कि धीरे २ जब वही व्यक्ति इनका सेवन बढाते हैं तो काल पाकर यह पदार्थ उनकी प्रकृतिके अनुकूल बनजाते हैं। यह तो आप अच्छी तरह जानते हैं कि अफीम, संखिया जैसे विषाक्त पदार्थ जो मानवी प्रकृतिके कभी अनुकूल पदार्थ नहीं कहे जा सकते, जिनकी चार २ आठ २ रत्ती मात्रा मारक का काम करती है, इन्हीं तीव्र विषोंका थोड़ा २ सेवन करके मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुकूल बना लेता है। इस तरह मनुष्य अपनी एक अस्थिर प्रकृतिको जिस रूपमें चाहे बदल सकता है, जिसका किसीभी दोषादिसे कोई सम्बन्ध नहीं।

उपसंहार

यह बात निःसंकोच कही जा सकती है कि प्राचीन आयुर्वेद की त्रिदोष कल्पना चिकित्साक्रममें एक सम्बन्ध मिलाने वाली लड़ी बनी हुई थी, और इसके द्वारा वैद्यको रोगीकी शीत, उष्ण, रूक्ष, तर प्रकृतिका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता था। इसके द्वारा औषधियोंकी प्रकृतिको भी समझ लिया जाता था। तथापि यह न तो तब रोगोंका कारण रहीं, न अब है। अब त्रिदोष शब्द कहे हुए अपने रूप, गुण कर्मोंमें पूरे नहीं घटते, यह शब्द-भ्रमात्मक कहे जा सकते हैं। इनके जो व्यापक अर्थ दिये गये थे, उनमें से एक अर्थ भी परीक्षामें ठीक नहीं उतरता। ऐसी दशामें उनका उस रूपमें व्यवहार करना विशेष भ्रमका उत्पन्न करना है। आपको ज्ञात हो-कि आज से एक शताब्दी पूर्व तक डाक्टरी चिकित्सा पद्धतिमें भी त्रिदोषवाद था, पर उन्होंने जब देखा कि इसके व्यापक अर्थ केवल काल्पित हैं। प्रयोग सिद्ध नहीं, तो उन्होंने इसे पहिले ही त्याग दिया। और आज ऐलोपैथी वाले इसका नाम तक नहीं जानते। मनुष्य तब तक किसी टेढ़े-मेढ़े, भूल-भुलय्याके मार्गमें पड़ा रह सकता है जब तक उसे सीधे रास्तेका ज्ञान न हो। जब सही मार्गका ज्ञान हो जाता है तो वह भूलकर भी उस मार्गकी ओर नहीं जाता। यही बात उक्त पद्धतिके सम्बन्धमें ऐलोपैथी चिकित्साकी ओरसे कही जासकती है। ऐलोपैथी चिकित्साको विज्ञानका आश्रय मिला, इसीसे उसने इस

विषय पर सही मार्ग देख लिया और वास्तविक सिद्धान्त पक्षकी ओर अग्रसर हो हमसे बहुत आगे बढ गया।

हमें भी, जब नहीं तो अब, देखना चाहिये कि रोगको समझने तथा चिकित्सा क्रममें सफलता प्राप्त करनेमें कौनसा प्राकृतिक सच्चा मार्ग है? जिस पर चलकर हम भी प्रतिस्पर्द्धियों की प्रतिद्वन्दतामें ठहर सकते हैं। जब तक इसके वैज्ञानिक अनुसन्धानसे प्राप्त फल पर अपने क्रमको निर्द्धारित नहीं करते, कभी उन्नति नहीं कर सकते। समय सदा एक सा नहीं रहता, न मानवी ज्ञान अब सीमाबद्ध रहा है। आज तीन हजार वर्ष पूर्व जो हमारा ज्ञान, विज्ञान था उतना ही रहेगा, या है, उससे परे कोई ज्ञान विज्ञान नहीं, ऐसा समझना भूल है। प्रत्युत विचार करके देखा जाय तो, यही स्पष्ट हो रहा है जैसे २ इस पृथ्वी परके भिन्न २ भागस्थ व्यक्तियोंसे हमारा सम्बन्ध बढ़ता जारहा है, उसके साथ २ हमारा ज्ञान-विज्ञान भी बढता जारहा है। और आज विदेश वासियोंसे यह सम्बन्ध अधिक दृढ हो जानेसे हमारे ज्ञान, विज्ञानमें इतनी अधिक उन्नति हुई है, जिसकी सीमा नहीं। ऐसे समय हम उस विज्ञान के प्रकाशमें अपने चर्म चक्षु न खोलकर—आंख मीचे—पूर्व पुरुषोंकी ज्ञान-विज्ञानमय सम्पत्ति पर—यही समझा कि इससे बढकर ससारके पास सम्पत्ति हो ही नहीं सकती, संतोष बनाये बैठे रहें और उसी प्रथाको उचित योग्य ठहरानेकी चेष्टा करते रहें, इससे और अधिक नादानी व भूल क्या हो सकती है? इस पर भी जो व्यक्ति विचार न करके प्राचीन काल्पनिक सम्पत्ति

रूपी रीछ (भालू) को कम्बल समझ पकड़े रहनेकी चेष्टा करते हैं, वह इस प्रतिस्पर्द्धी संसारके महानदमें अवश्य ही बहकर डूब जायगे, इसमें संशय नहीं।

पूर्वकालमें त्रिदोष सिद्धान्तका स्थापन इसलिये हुआ कि उस समय कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था, पर इसका स्थापन कोई प्रयोगजन्य नहीं था। प्रत्युत उस समयके कार्य क्रमको सुव्यवस्थित बनाये रखनेका यह एक साधन मात्र बना। पर अब,जब कि चिकित्सा शास्त्रमें काफी उन्नतिहो रही है, प्रत्येक चिकित्साके सिद्धान्त अच्छी तरह प्रयोगोंकी कसौटी पर कसकर स्थापित होरहे हैं इसमें जो सच्चे हैं वह स्थिर हैं और बने रहेंगे। बाकी सब छुटते चले जारहे हैं,उन्हींमें से एक त्रिदोषभी छोड़ देनेके योग्य है। क्योंकिजो अनावश्यक व अयोग्यहो उसे क्यों न छोड़ दिया जाय? पर नहीं, हम देखते हैं कि अनेक दकयानुसी विचारके व्यक्ति जो समयके प्रभावको नहीं जानते, सच्चाई जांचनेके लिये वह कभीभी अपनी बुद्धिमे काम नहीं लेते, वह केवल तोते वाली राम२ रटकर-'सब रामही राम है' इससे परे कुछ नहीं देखते। पैत्रिक मोहके कारण अपनी डायन माताको भी मातृस्नेहसे देखते हैं। वह व्यक्ति सत्यताको देखते व समझते हुएभी असत्यको नही त्यागते। प्रत्युत इन विचारोंके व्यक्ति सच्चाईके विपरीत आन्दोलन करते हैं और अपने जैसे स्वभावके व्यक्तियों पर अधिकारभी प्राप्त कर लेते हैं। पर ऐसा करनेसे ससारको इतनी हानि नहींहो सकती, जितनी उनके सजातियोंकी होगी, यह एक निश्चित बात है। क्योंकि समय बड़ा बलवान है, बड़े बड़ोंका इसने मान मर्द्दन कर डाला है

यथा—पहिले वैज्ञानिक संसार जिस डाल्टनके परमाणुओंको अछेद्य अभेद्य समझता था, न्यूटन ने जिस गति शील नियमको निर्भेद्य सिद्धान्त पर स्थिर किया था, आज वह क्रुक्स नलीने तथा आइन्स्टाइनके सापेक्ष वादने उन्हें शश शृंगवत्‌ही संसारसे उड़ादिया। ऐसे २ बड़े धुरन्धर वैज्ञानिकोंके स्थिर सिद्धान्त जब कालचक्रकी चक्कीमें पिस सकते हैं तो त्रिदोष जैसे काल्पनिक सिद्धान्तकी तो बातही कुछ नहीं कि जिसको दुनियाके १॥ करोड़ आदमियोंमेंसे कुछ लाखही मानने वाले हों।

प्रत्येक वैद्य इसबातको स्वीकार करते है कि हमारा आयुर्वेद प्रयोग विज्ञानके आधारको लेकर आरम्भ होता है और स्थल २ पर प्रयोगोंसे ही काम लिया जाता है। फिर न जाने क्यों, वैद्य आज प्रयोगवादका नाम सुनकर घबरातेहैं और आधुनिक प्रयोग-विज्ञान की ओर न तो कदम बढ़ाते हैं, न इसपर विश्वास करते हैं।

पूर्वकालके कठिन प्रयोग मार्गों से नो आधुनिक प्रयोग मार्ग कठिन नहीं, घर बैठें ही सब साधन उपलब्ध हो सकते हैं। केवल थोड़े द्रव्यकी आवश्यकता है, इस समय ऐसे २ उत्तम निगूढ यन्त्र निर्मित हो चुके हैं जिनसे बालकी खालभी उतारी जा सकती हैं, और जिनके द्वारा तत्वोंका विश्लेषण एक साधारणसा कार्य होगयाहै। यही नहीं, प्रत्युत ऐसे२साधनभी प्राप्त कर लिये गये हैं कि जिनके द्वारा प्रकृति माताके रूपका दर्शन भी स्पष्ट होजाता है और ईश्वरीय सामर्थ्य पर्दा छोड़कर सामने दिखाई देने लगतीहै। ऐसे उपलब्ध समयको पाकर हमारा पिछड़ना और यही कहते रहना कि जो कुछ पूर्व पुरुष कहगये हैं उसमें

परे न कोई कहने वाला हैं, न कहेगा। पूर्व पुरुषोंकी कृतिमें बट्टा लगाना है और उनकी उपार्जित कीर्तिको नष्ट करना है।

वास्तवमें बात यह है कि हम सबको भाग्यके भरोसे जीवन निर्वाहकरनेकी जो आदत पड़गई है उसके कारण हम पुरुषार्थ हीन हो गये हैं। इसीलिये इतिहास से सिद्ध है कि हमारी अवस्था उन्नत होनेकी अपेक्षा गिरती ही जा रही है। हम आलसी बन गये हैं, भाग्यके भरोसे बैठे रहकर अपनी आत्म शक्तिको खो चुके हैं, इसीलिये कुछ करनेकी अपेक्षा बात बनानाही अधिक पसन्द करते हैं, और इस समय जो व्यक्ति इस बन्धनको शिथिल करके प्रयोगवादकी ओर अग्रसर होनेकी चेष्टा करते हैं उन्हें विदेशी पद्धतिका अनुयायी, प्राचीन पद्धतिको नष्ट करने वाला, कहकर उसका बहिष्कार करते हैं। और वही उन्नतिमें बाधक बने हुए हैं।

हम स्थल २ पर बतला चुके हैं, हमारी प्राचीन त्रिदोष पद्धति पूर्णतया अनुमान जन्य है और यह केवल उस समयकी आवश्यकताको निभानेके अर्थ पंचत्ववादके आधार पर स्थिर करदी गई थी। उस समय कोई प्रायेगिक साधन ऐसे नहीं थे, जिनके आधार पर इसको सिद्धान्त रूप दिया गया हो। इसीलिये इससमय इसकी वास्तविक स्थितिको ज्ञात करके उसमें परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता दिखाई देरही है। यद्यपि चिकित्सा करते समय अनुपान' रूपमें प्रत्येक वैद्य वातसे शीत, रूक्ष और पित्तसे उष्ण तथा श्लेष्मसे तर प्रकृतिका निश्चय करके रोगीमें जो प्रकृति बढ़ी हुई होती है, उसके विपरीत द्रव्य या अनुपान व पथ्य

का उपयोग बता कर चिकित्सा क्रम निर्द्धारित करता है। तथापि इस सरल क्रमको समझने समझानेमें बड़ी पेचीदगीसे काम लिया जाता है। इस परोक्ष ज्ञानके कारण ही पूर्व-कालमें वाग्भट जैसे विद्वानों की तर्कनाने इसके क्रममें औरभी अभिवृद्धि करदीथी। जो वास्तवमें उससमयकी प्रथाका ही दोष कहा जासकता है, सच्चाई युक्त नहीं। किन्तु अब, अनेक वास्तविक बातोंका अनुसन्धान हो चुका है, तथा वातपित्त, कफका रूप तथा शीतउष्ण रूक्ष श्लक्ष्णका रूपभी अच्छीतरह जाना जा चुका है, ऐसी दशामें शीतरूक्षके स्थान पर वातका व्यवहार उष्णके स्थानपर पित्तका तथा तरके स्थानपर श्लेष्म शब्दका व्यवहार भ्रमात्मक है। इसीलिये अब यथार्थ अर्थ द्योतक शब्दोंकोही उनके स्थानपर रखना व उन्हींसे कामलेना उचित प्रतीत होता है।

कई वैद्य पूर्व विश्वास बस पूर्व पक्षकी ओर झुकेंगे और यही कहेंगे कि त्रिदोषको तो शास्त्र रोगोंका मूल कारण मानता है, यूनानी वालेभी इसको कारण मानते हैं। पर दोषोंका औषध-प्रकृति व रोग-प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं। यह भ्रम है। रोगोंके मूल कारणमें स्पष्ट दिखा दिया गया है कि रोग के कारण त्रिदोष नहीं, बल्कि शरीरका विकार व जैवी तथा मानसिक अभिघातादि विकार मूल कारण होतेहैं। दोषोंका तो किसी तरह भी रोगोंसे सम्बन्ध नहीं मिलता। यदि इससे वैद्योंका कुछ समाधान भी हो जाय तो उनके हृदयसे यह शंका कभी दूर हो ही नहीं सकती कि—यदि "आयुर्वेदिक चिकित्सासे त्रिदोषको निकाल दिया जाय तो आयुर्वेदका वह प्राचीन चिकित्सा क्रम ही नहीं

रहता, बल्कि सारा का सारा क्रम बदल जाता है।" त्रिदोष रहित आयुर्वैदिक चिकित्सामें फिर हम किस तरह रोगोंके रूपको समझेंगे? तथा पदार्थोंमें किस तरह शास्त्र पद्धतिसे गुण स्वभावको जानेंगे। इससे भिन्न रोगावस्थामें द्रव्योंसे रोगोंका सम्बन्ध स्थापक क्रम कोई नजर नहीं आता, सारी पद्धति विशृखलित होजाती है। त्रिदोष रहित आयुर्वैदिक पद्धति फिर न तो शास्त्रीय पद्धति रहती है, न वह पूर्व सिद्धान्त। बल्कि प्राचीन ग्रन्थोंको भी छोड़ना पड़ताहै। ऐसा समझनाभी भूल है, यह धारणा बिलकुल निराधारहै। हमारी चिकित्सा पद्धतिसे त्रिदोषके निकल जाने पर न तो प्राचीन पद्धति ही बिगडती है, न प्राचीन ग्रन्थोंको त्यागने की आवश्यकता है। केवल कुछ साधारण सा विचार क्रम अवश्य बदलना पड़ेगा, और द्रव्योंके गुण, स्वभाव सब वही रहेंगे, हां कुछ शाब्दिक सुधार अवश्य करना होगा। रोगोंके कारणोंमें त्रिदोष नहीं रहेंगे, प्रत्युत परिस्थिति प्रभावोद्भूत साधारण विकार और जैवी तथा मानसिक विकार यह तीनों कारण रहेंगे। इनमेंसे रोगके लक्षणों द्वारा कारण ढूढ लिया जायगा। तथा औषध व्यवस्थामें औषधका रोग विपरीत कारी रोग शामक गुण, प्रभाव देखा जायगा। तथा पथ्य या अनोपानकी व्यवस्थाके समय प्रकृतिका ध्यान रक्खा जायगा। बस इस तरह प्राचीन रोगों पर वही प्राचीन योग होंगे, वही पथ्य व्यवस्था होगी। और इस धारणासे परिवर्तनसे आयुर्वैदिक पद्धति सुसंस्कृत होजायगी। वैज्ञानिकीय बन जायगी। तिस पर भी यह सिद्धान्त नया न होगा, प्रत्युत आत्रेय जी की निश्चित स्वानुभूत पद्धति होगी। जिसको हम सर्वथा प्राचीन शास्त्र सम्मत

ऋषि प्रणीत मानते हैं। उपरोक्त परिवर्तन यद्यपि एक साधारण सा परिवर्तन है, पर भ्रम वश बड़ा भारी दीखता है। यह परिवर्तन नया नहीं, पूर्व कालमें भी अनेकों इस प्रकारके परिवर्तन इससे भी-भारी २ हो चुके हैं। जिसमें से हम एक दृष्टान्तके तौर पर रखते हैं। प्राचीन आयुर्वेदिक पद्धति त्रिदोष ज्वरके होने पर चिकित्सा क्रम निम्न लिखित रीति पर निश्चित करती थी यथा—

ज्वरादौ लंघनं कुर्य्याद् ज्वर मध्ये तुपाचनम्।
ज्वरान्ते रेचनं दद्यादतत्पश्चात मौषधम् ॥

यदि वात ज्वर है तो ७ दिन, पित्त ज्वर है १० दिन, श्लेष्म ज्वर है तो १२ दिन प्रथम लघन कराकर पुनः दोषपाचनार्थ क्वाथादि देना चाहिये, तत्पश्चात् रेचन देकर औषधका व्यवहार कराना, ऐसा निश्चित था। पर इस क्रममें देखिये। कितना परिवर्तन हो गया है जब से रसोंका व्यवहार बढा, ज्वरावस्थामें अनेक रस, क्वाथ चूर्णोंसे विशेष उपयोगी सिद्ध हुए। वैद्योंने देखा कि रसों द्वारा चिकित्सा करने पर न तो रोगीको कई २ दिन लघन देनेकी आवश्यकता है न दोषपाचनार्थ भिन्न २ प्रकारके क्वाथोंकी। रोगी स्वयम् ही एक सप्ताह तक चारपाई पर पड़ा रहना नहीं चाहता, इन हालतोंमें वैद्योंको उक्त क्रम छोड़ना पड़ा। आज क्या अवस्था है—कि शीत देकर ज्वर चढ़ा, वैद्यको ज्ञात हुआ कि इसे विषम ज्वर है। वह सर्व प्रथम रेचनकी व्यवस्था करता है और अगले दिन ही ज्वरांकुश व सुदर्शन चूर्ण आदि देकर ज्वरको

शीघ्र रोकनेकी चेष्टा करता है। लंघन और पाचन यह ज्वरके समयकी दो कठिन क्रियाओंका वैद्य त्याग कर दो सीढ़ी उछलकर रेचन और औषध प्रयोग पर जा पहुंचा। कितना भारी परिवर्तन हुआ। परन्तु, यह परिवर्तन लाभदायी है, रोगीके अनुकूल है। इसलिए प्रचलित हो गया और वह पूर्वका शास्त्र निश्चित सिद्धान्त अपने आप छुट गया। इस तरहके परिवर्तनसे न तो शास्त्र पद्धति ही बदली, न उसमें कोई त्रुटि आई है। प्रत्युत इस तरह करनेसे या सच्चाईको ग्रहण करनेमें तथा उसके अनुकूल अपनी पद्धतिको बना लेनेसें, उससे अधिक उन्नति हुई है। इस तरह हमी नहीं कर रहे हैं, संसार कर रहा है। आज वैज्ञानिक संसार प्रायोगिक जगत्में है जिन सिद्धान्तों पर वह कार्यकर रहा है, करते२ उसमें उसे कोई त्रुटि दिखाई देती है, उसे वह वैज्ञानिक समाजके सामने रखता है। यदि परिणाममें उक्त सिद्धान्त त्रुटि पूर्ण दिखाई देते हैं,तो उसे त्याग दिया जाता है,और वह फिर सच्चाईकी ओर क्रमसे अग्रसर होता है। इस तरह इस एक शताब्दीके भीतर२ नजाने कितने सिद्धान्त बने और वह कालपाकर अपना अस्तित्व खोबैठे। हां! इतिहासके पृष्ठोंमें अवश्य उनका नाम रहगया है। इस तरह संसार धीरे२ सच्चाई की ओर अग्रसर होता चला जारहा है। जिसको देखकर अनेक दकयानूसी विचारके व्यक्ति जनताको इस भ्रममें डालने की चेष्टा करते हैं कि वैज्ञानिक जगत् का कोई सिद्धान्त नहीं। आज जिसे सिद्धान्तका रूप देता हैं, कल उसीका खण्डन कर डालता है। यह वैज्ञानिक जगत् वेपेंदी का लोटा है, बिना सिद्धान्तके मनगढन्त मार्ग पर भटकने

वाला अज्ञात नामा पथिक है । इसके पीछे किसी को नहीं जाना चाहिये, वरना यह औरों को भी सिद्धान्त रहित बनाकर भ्रम जालमें फंसा देगा। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त, सही सिद्धान्त है। जो हजारों वर्षोंमे अचल और अटल रूपमें व्यवहार होता चला आया है। यदि इसमें त्रुटि होती तो यह कबका मिट गया होता। ऐसे झूठे तर्क वादसे यह जनताको धोखेमें डालते हैं । वास्तवमें देखा जाय तो इसमें रन्चक मात्र सचाई नहीं। वैज्ञानिक जगत् को हमही नहीं संसारके प्रत्येक विचारवान् आदर व विश्वास की दृष्टिसे देखते हैं, और उनके प्रायोगिक अनुसन्धानों पर पूर्ण विश्वास रखते हैं। रहा सिद्धान्तोंमें परिवर्तन, यही क्यों संसारही परिवर्तन शील है। संसारका एक २ कण क्षण २ में बदलता जाता है । हमारा शरीर हमारा मन तक बदलता रहता है। स्थिर तो कोई चीज न हुई, फिर सिद्धान्त बदल गये तो कौनसी आफत आगई, जरा इस पर विचार तो करो।

हमने प्राचीन चिकित्सा पद्धतिको आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से संयुक्त करके जो संशोधित रूप निश्चित किया है तथा जिस विधि द्वारा हम स्वयम् चिकित्सा करते हैं। उस सुधरी हुई विधि पर ग्रन्थोंकी रचना आरम्भ करदी है। पहिली १५०० पृष्ठकी पुस्तक 'सृष्टि-रचना-शास्त्र' जेलमें बैठ कर पूरी कर ली गई है। तथा अन्य पुस्तकें भी शीघ्र ही पूर्ण करके पाठकोंके कर कमलों तक पहुंचाने की चेष्टा करूंगा।

❋ पारिभाषिक शब्द सूची ❋

अकाज्जलिक अम्ल	In Organic Acid
अकाब्जालिक	In Organic
अन्न प्रणाली	Œsophagus
अनैन्द्रिक	In Organic
अणु	Molecule
अण्डसित	Albumen
अण्डसितोद	Albuminous
अमृत	Vitamine
अवयव	Organic
अस्राजिद	Protid
अस्रजित	Protein
असुर्य	Harmone
अहिफेनिया	Morphia
अहिफेनिन	Morphine
आकाश	Sky या Space
आयतन	Volume
आदि जैव	Protozoen
इक्षोज	Sucrose
ईश्वर	Ether
उत्प्रेरक	Catalyser
उत्तापक यन्त्र	––Heater

उद्कज्जलिद	Hydrocarbide
उदजन	Hydrogen
उद्भिदाम्ल	Organic Acid
उदूष्मिल	Hydroxyl
उद्वायी तेल	Essential Oil
उपहरांग	Chloroplasts
उपमास्तिष्क	Cerebellum
ऊष्पजन	Oxygen
ऊष्मिद	Oxide
ऊष्मूदिद	Hydro oxide
एक शर्करोज	Manosaccharose
एन्द्रिक पदार्थ	Organic Matter
कज्जल	Carbon
कज्जलद्विकाष्मिद	Carbon di-xide
कज्जलेत	Carbonate
कज्जलोदेत	Carbohydrate
कत्थोल	Catechol
कषायिन	Tannin
कह्वीन	Caffeine
कज्जलाम्ल	Carbolic Acid
कांदव	Emulsion
कान्तम्	Magnesium
कितोन	Ketone
किण्व	Ferments

किण्व क्रिया	Fermentation
किण्व जैव	Enzyme
कीटाणु	Bacteria
कुनैन	Quinine
कुनोलिन	Quinoline
क्लोम	Pancreas
खनिजाम्ल	Mineralic Acid
खुरासायमिन	Hyoscyamine
खुरासीन	Hyosine
गन्धकाम्ल	Sulphuric Acid
गन्धसाम्ल	Sulphurous Acid
गन्धिद	Sulphide
गन्धेत	Sulphate
गोंद	Arabine or Gum
घनत्व	Density
चिञ्चाम्ल	Tartaric Acid
चिञ्चोनिकाम्ल	Tartaric Acid Meso
चूनजम्	Calcium
जंगम	Organ
जन-विष	Xanthine
जीवकोष	Cell
जीवाणु	Protozoa
जैव	Microbes
जैव विषीन	Toxine

टिटेनिकाम्ल	Titannic Acid
ठोस	Solid
तत्व	Element
तन-विष	Synthetic Alkaloids
तपन	Calorie
तमालिन	Nicotine
तिक्तीन	Acridine
द्रव	Liquid
द्राक्षोज	Glucose या Dextrose
दालचीनीकाम्ल	Cinnamic Acid
दाहक सैंधव	Caustic Soda
दाहक पांशव	Caustic potas
दिव्योल	Phenol
द्विशर्करोज	Di-saccharose
दुग्धोज	Lactos
दुग्धाम्ल	Lactic Acid
ध्रुकस्थल	Carpos Uteri
धतूरिन	Atropine
नवनीतिकाम्ल	Butyric Acid
निम्बुकाम्ल	Citric Acid
नीलघोतकपत्र	Blue Litmus paper
नैलिका	Iodine
नोनजन	Pluorine
प्रकृति	Tempramant

प्रजीवादि	Protaplasm
प्रदाहित	Inflamationery
प्रहर्षण	Irritation
पवन	Nitrogen
पवनियां	Ammonia
पवनेत	Nitrates
पवनाम्ल	Nitric Acid
पच्यलेही	Cayne
परिपच्यलेही	Chyme
परमाणु	Atom
पांशुजम्	Potasium
पाशुगन्धेत्	Potasium Sulphate
पांशु कज्जलेत	Potasium Carbonate
पांशुवहु गन्धिद	Potasium poly sulphide
पिप्परीदीन	Piperidine
पिपीलमद्यनार्द्र	Formaldehyde
पिपीलकाम्ल	Formic Acid
पिपील उद्रूष्मिकाम्ल	Formhydroxamic Acid
पित्त	Bil
पौष्यिद	Peptide
पौष्यिन	Peplone
फलोज	Froctose
वहुपौष्यिद	Polypeptides
वहु शर्करोज	Polysachharose

बादामिकाम्ल	Mandelic Acid
बारारिम्	Barium
बोध तन्तु	Nerbous tissue
भार	Mass
मग्नम्	Manganese
मधुरिकाम्ल	Glycollic Acid
मधुरुष्मलिन	Glycoxoiline
मरिचांदीन	Pyridine
मांडी	Starch
मायफलाम्ल	Gallic Acid
यवोज	Maltose
रक्तम्	Rubidium
रक्तावयव	Blood Corposcle
रसायनिक परिवर्तन	Chemical Change
रसायनिक संगठन	Chemical Composition
राल	Resin
लवण जन	Chlorine
लवण पूप	Salt Cake
लसिका	Lymph
लेही	Saponification
लोबानिकाम्ल	Benzoic Acid
ब्रह्मणिका	Bromine
वल्कलोज	Cellulose
वसाम्ल	Stearic Acid

वायव्य	Gas
विद्युत चुम्बकीय शक्ति	Electromagnetic Energy
विश्लेषण	Analysis
विषमुष्टिन	Strychnine
विषमज्वरी जैव	Haematozoon Malaria
शरीर क्षय	Katabolism
शरीर क्षमता	Immunity or Resisting Power
शरीर पूर्ति	Anabolism
शर्करीन	Seccharine
शक्ति	Force
शृंगिन	Aconitine
श्यामम्	Caesium
शार्करी	Carbohydrates
श्लेष्म	Mucous
शैलिका	Silicon
शोरकाम्ल	Nitric Acid
शोरसाम्ल	Nitrous Acid
सनकोना	Cinchona
सनकोनीन	Cinchonine
समकुनोलिन	Iso Quinoline
सन्धान	Fermentation
सन्धानी जैव	Enzyme

संग्राहक कोष	Tissue
स्नायु	Nerve
सम्वेदक तन्तु	Gustatory cell
स्नायु मण्डल	Nervous System
स्फटकी करण	Crystallisation
स्फुरिकाम्ल	Phosphoric Acid
स्फुरिसाम्ल	Phosphorous Acid
स्फाटिकम्	Aluminium
स्फुर	Phosphorous
स्नेही	Hydro Carbide
सामर्थ्य	Energy
सिरकाम्ल	Acetic Acid
सुराबीज	Yeast
सुरासन्धानी	Yeast Zymose
सुषुम्नानी नाडी	Spinal Cord
सैंधकज्जलेत	Sodium Carbonate
सैंधजम्	Sodium
हरांग	Chlorophyll
क्षय पूर्ति	Anabolism
क्षारविद	Alkaloid
क्षय-पूर्ति-वृद्धि	Metabolism
ज्ञान-तन्तु	Nervous Tissue

* शुद्धि पत्र *

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
चिकिस्ता	चिकित्सा	३	१४
अल्पायुशो	अल्पायुषो	६	६
कलियुगाश्च्का	कलियुगश्च।	६	१२
प्रवक्षामि	प्रवक्ष्यामि	६	२२
प्रमाणिक	प्रामाणिक	८	३
सांख्यै संख्यात	सांख्यै प्रपच्छ सख्यात	८	२०
वह्निवेश	वह्निवेशः	८	२१
वार्षेविद	वोपविद	११	७
कारणको	कारणका	११	१२
पुष्टी	पुष्टि	१३	२
शाक्यों	शाक्तियों	१३	७
पुन्सत्व	पुंस्त्व	१६	२१
उज्वलता	उज्ज्वलता	१८	१४
स्वभावसें	स्वभावमें	२०	२३
सत्तात्मक	सत्तात्मक	२१	४
रहे	हो	२१	१२
सपटिन की जगह पवन पढ़ें		२२	२
जलान्तर्ग	जालान्तर्ग	२२	२०
परमाणु स	परमाणु. स	२२	२१
त्रसरेणु	त्रसरेणुः	२२	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
श्रोत स्पर्शन मूलम्	श्रोतस्पर्शनयोर्मूलम्	२७	१३
तत्व वायव्य वेगमे	तत्व वेगसे	२८	१६
पृथ्वी तत्वों	पृथिवीमें तत्वों	३५	७
सैंधमम्	सैंधजम्	३५	१४
मग्नम्	मग्नम्	३५	१४
नासावोध	नासाके बोध	३७	६
आपेक्षित	अपेक्षित	३८	२३
वह तो	यह तो	३८	१०
शद्ब	शब्द	३९	११
गुणा शरीर	गुणः शरीरे	३९	१७
चेतनाषष्टा	चेतनाषष्टी	४०	४
ईथर	ईश्वर	४२	२५
अजीवनादिकी जगह	जीवन पढ़ें	५१	११
जीवकोषोंकी	जीवकोषकी	५२	१०
श्यामता	श्यावता	६९	८
जातिषु	जातिषु	६९	१७
रूपआने	रूपमें आने	७१	२
गुणोंका विवेचन शीर्षक		७१	४
उसमें	उससे	७२	१४
सह धर्म है	सहधर्मा है	७३	२१
चले जाते हैं	चला जाता है	७४	७
पित्त प्रणव	पित्तके मिश्रण	७५	६५
है पित्त	है फिर पित्त	७६	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
श्लेष्मके स्वरूप	श्लेष्म रूपके	७८	२
इनमें	इसमें	८०	६
से जनन	संजनन	८०	१४
इयडील	इयडोल	८२	१
रक्तने जाल	रक्तके जाल	८२	२०
रक्त की	इनकी	८३	७
कष्ट न उठाया	कष्ट उठाया	८३	६
सकथनी	सक्थनी	८३	१७
वायु कहा या माना	वायु ही माना	८६	१६
रूप अच्छी	रूपको अच्छी	८७	५
विकार	विकारी	८८	३
वनै पतलाया	वनै या पतला वनै	८८	४
चाहे कुछ सही	चाहे सही	९०	१७
अनेक उक्त	अनेक अवयव उक्त	९१	२४
स्वास्थ्य	स्वास्थ	९३	१५
परित्याज	परित्यक्त	९३	२४
कई कई कर्मज	कई कर्मज	९४	२४
अवोर्ध्व	अधोर्ध्व	९६	८
श्लेष्म भी	श्लेष्मकी भी	९६	१०
आघातित	आघातित	९७	१९
शिखाका	शाखास्कन्धका	१००	२०
अभिवात	अभिघात	१०१	१०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
जाना जो	जाना है जो	१०२	५
यह पित्त	न यह पित्त	१०२	८
कंठशोथ मुखशोथ	कंठशोष मुखशोष	१०२	२३
शर्करी	शार्करी	१०३	२०
की स्वल्पता	की विशेषता	१०४	६
अजीर्ण	अजीर्णोन	१०४	२१
सिद्धान्तिक	सैद्धान्तिक	१०६	२०
पसार	प्रसार	१०६	१०
होता है	होताथा	१११	१४
वृद्धावस्थामेंभी	व्रद्धावस्थाभी	११२	२१
का	को	११३	४
अग्निमें	अग्निसे	११४	४
पाच भूतोंसे	द्रव्योंमें के बाद पढ़े	११७	६
रस	रस हैं	११७	१३
पित्तके	पित्तको	११६	११
कफश्चक आगे	। की बजाए—चाहिये	११६	१६
दोष	दोष के	१२१	१
शयन	शमन	१२१	२३
रसाकों	रसोंकी	१२४	६
बाधन्तुमें	बोधतन्तुओं में	१२४	१३
बोधा अंकुरोंकी	बोधांकुरोंकी	१२४	२०
स्यादका	स्वादका	१२४	२१

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
धातक	धातव	१४२	१३
वनते	बनाते हैं	१४३	४
सख्या	सख्या	१४४	४
वर्गस	वर्गमे	१४२	१५
घुमिमदशा	घुलितदशा	१५२	२१
पांश लवण	पाशु लवण	१४२	२३
चटपटाहट	चरपराहट	१४४	१५
चटपटाहट	चरपराहट	१४४	१६
करके इसमें छिपा	करके छिपा	१४४	२१
पर इस ममय	इस समय	१४५	६
कटुपारीय	कटुसारीय	१४५	६
रसायनिकशास्त्र	यह रसायनशास्त्र	१४५	१४
चार विद्मे	चारविद्के नामसे	१४५	१४
इन्हों	इन्हें	५४५	१८
जिने भी	जितने भी	१४५	१९
—	यथा	१४५	२२
करत हैं	करते हैं	१४६	१६
ऐसे है	ऐसे हैं	१४७	१७
कुछएको	कछुएको	१४८	२
तन-बिषके या	तन-विष या	१४८	१२
मीठोतेलिया	मीठातेलिया	१४८	१७
इसक	इसके	१५०	२
पिपाल	पिपील	१५०	१२
सम्वेदक	सम्वेदन	१५२	११
जहा	जह्वा	१५२	२०
जिह्से	जिह्वासे	१५२	२१
संकोच	संकोचक	१५३	१

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
धन्वन्तरेर्मतम्	धन्वन्तरेर्मतम्	१५५	१७
गुर्णोको	गुणोंको	१५७	२
रुदं	रूक्ष	१५७	४
भिपेक्	भिषक्	१५७	१५
गुर्वराद	गुर्ववादि	१५७	१८
०१६	०'१६	१६२	१४
२२४	२'२४	१६२	१४
३६३	३'६३	१६९	२३
द्रव्योंको	द्रव्योंकी	१७१	३
है	हैं	१७२	१६
परिपाक	परिपाक	१७३	१६
देते हैं	देते हैं	१७४	५
उसके	उसको	१८०	१४
वर्ण कारण	वर्ण कारण	१८१	६
स्फुट	स्फुर	१८१	२०
विपदन्द	विषदन्त	१८४	१
हमारे माने	हमारेसामने	१८५	११
मधुरुष्णालिन	मधुरुष्णालिन	१८७	१२
बचेनका	बचाने का	१८८	१२
आत्रिय जी	आत्रेय जी	१८८	२०
अव्यस्थि	अव्यवस्थित	१८६	२३
कारण	करण	१९०	१४
आदि अनेकों	आदिके अनेकों	१९०	१०
आभिपाय	अभिप्राय	१९३	६
प्रदुर्भव	प्रादुर्भूत	१९४	७
न्यूनन्धानून्यूरयामः	न्यूनान्धातन्यूरमामः	२०३	२